विद्यार्थी संस्करण

श्री हर्ष रचित

नागानन्दम्

संस्कृत

हरजीत सिंह एम. ए.
गवर्नमैण्ट कालेज, रोपड़।
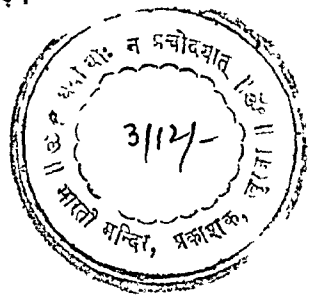
लाहौर बुक शाप
घण्टा-घर, लुध्याना

मुद्रक :—
स० महिंद्र सिंह
महिंद्रा आर्ट प्रैस
सिविल लाईनज़, लुधियाना

प्रथम आवृत्ति २०००

प्रकाशक :—
स० जीवन सिंह एम. ए.
लाहौर बुक शॉप
घण्टाघर, लुधियाना

प्राक्कथन

श्री हर्ष रचित 'नागानन्द' नाटक का यह विद्यार्थी संस्करण प्रस्तुत करते हुए आज हमें अत्यन्त हर्ष तथा आनन्द हो रहा है। अपने कई वर्षों के अध्यापन-अनुभव से लाभ उठा कर हम ने वही चीज़ें इसमें देने का प्रयत्न किया है जिन की विद्यार्थियों को आवश्यकता होती है। अनावश्यक अंश को कहीं भीतर नहीं आने दिया।

और भी कई मान्य संस्करण 'नागानन्द' के मिलते हैं। तो फिर इस संस्करण के प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता थी? प्रस्तुत संस्करण में कई एक विशेषताएँ हैं। यथा :—

१. एक पृष्ठ पर संस्कृत पाठ है तो उसके सामने वाले पृष्ठ पर उसी का भाषा-अनुवाद।
२. मौलिक प्राकृत पाठों की संस्कृत छाया उन की निचली पंक्तियों में छोटे प्रिण्ट में दी गई हैं। इस से न केवल संस्कृत छाया अपितु प्राकृत के नियमों को भी समझने में विद्यार्थी को सुभीता होगी।
३. आवश्यक टिप्पणियां प्रत्येक पृष्ठ पर अनुवाद के नीचे दे दी हैं। पुस्तक के पृष्ठ पलटने की आवश्यकता नहीं।
४, प्रत्येक श्लोक का अन्वय संस्कृत पाठ वाले पृष्ठ पर नीचे दिया गया है जिस से उस श्लोक को समझना सरल होगा।
५. आरम्भ में विस्तृत भूमिका दी है, जिस में संस्कृत नाट्य-कला की उत्पत्ति, 'नागानन्द' की कथावस्तु, इस के कर्ता के जीवन तथा नाट्यकला के बारे, प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण इत्यादि अनेक उपयोगी विषय हैं।

६. अन्त में तीन परिशिष्ट हैं— एक में नाटक में आए पौराणिक, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक उल्लेख हैं, दूसरे में नाट्य-कला-सम्बन्धी परिभाषाएँ और तीसरे में प्राकृत के नियम दिए हैं।

७. परन्तु इस संस्करण की ख़ास विशेषता इसका भाषा-अनुवाद है। मौलिक पाठ के प्रत्येक पद का शब्दार्थ देने के साथ साथ इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि जहां तक हो सके अनुवाद मुहावरेदार हो। अनुवाद की भाषा सरल है और जटिल पाठों को पर्याप्त स्पष्ट किया है।

इस पुस्तक के लिखने में हमने निम्नलिखित लेखकों तथा पुस्तकों से सहायता ली है:—

१. कीथ — 'दी संस्कृत ड्रामा'।
२. ऐस०के०डे— संस्कृत साहित्य।
३. जागीरदार— संस्कृत नाटक।
४. आर०के०मुकर्जी— हर्ष।
५. ऐन०जी०सूरू — प्रियदर्शिका।
६. भाह्ले तथा प्रान्जपे— नागानन्द।
७. रामानुज स्वामी — नागानन्द।
८. पं०. बलदेव उपाध्याय — नागानन्दम् नाटकम्।
९. पामर ब्वाइड — नागानन्द का अंग्रेज़ी में अनुवाद
१०. हेल वर्थम — नागानन्द का अंग्रेज़ी अनुवाद।
११. ए०सी०वूलनर — इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत।

हम इन सब लेखकों तथा इन ग्रन्थों के प्रकाशकों के अत्यन्त आभारी हैं।

हम आशा करते है कि यह संस्करण विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करेगा। उनके लिए सर्व प्रकार से इस ग्रन्थ को उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। फिर भी यदि कोई न्यूनता रह गई हो तो अध्यापक महोदय हमें लिखने का कष्ट अवश्य उठाएँ। हम उनके अमूल्य तथा लाभप्रद परामर्श के लिए उनके अनुगृहीत होंगे। और, यदि दूसरा संस्करण सम्भव हुआ, तो उसमें वे बातें लाकर उस न्यूनता को दूर करेंगे।

अन्त में, हमारी यही हार्दिक इच्छा है कि अधिक से अधिक विद्यार्थी इस संस्करण से लाभ उठाएँ, तभी हमारा परिश्रम सफल होगा।

२४-११-५२. हरजीत सिंह

श्री हर्ष-रचित

"नागानन्द"

भूमिका

संस्कृत नाट्य-कला की उत्पत्ति :-

निश्चित रूप से यह कह सकना कि संस्कृत में नाटकों का आरम्भ कब हुआ असम्भव है। नाट्य कला के सर्व-प्रथम नमूने जो हमारे हस्तगत हुए हैं वे इतने पक्व हैं कि वे नाट्य-कला के आदि काल के कदापि नहीं हो सकते; वे तो उस कला की प्रौढ़ावस्था के द्योतक है।

प्राचीनतम प्राप्त नाट्य-लक्षण-ग्रन्थ (भरत-कृत) नाट्य-शास्त्र के आधार पर परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार नाट्य-कला की उत्पत्ति दैवी बताई जाती है। कहते हैं कि त्रेतायुग के आरम्भ में देवता और मानव मिलकर ब्रह्मा के पास गए और अपने मनोरञ्जन के लिए किसी विशेष वस्तु की अभ्यर्थना पूर्वक मांग की। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय-कला और अथर्ववेद से रस लेकर एक पञ्चमवेद बनाया जिसका नाम नाट्य-वेद रखा गया। इस में शिव ने ताण्डव, पार्वती ने लास्य और विष्णु ने चार नाट्य-शैलियां मिलाईं। विश्व कर्मा ने रंगमञ्च तैयार किया। और पृथ्वी पर इसे भेजने का कार्य भरत मुनि को सौंपा गया। भरत मुनि स्वयं सर्व प्रथम सूत्रधार बने। और सब से पहिले नाटक के पात्र गन्धर्व तथा अप्सराएँ थीं।

दृश्य काव्य को संस्कृत आचार्यों ने 'रूपक' का नाम दिया है। अब इस अर्थ में साधारणतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग होता है। रूपक

का बीज 'अनुकरण' अथवा नकल है। आदि काल से ही मनुष्य में नकल करने की प्रवृत्ति रही है। ज्यों ही यह प्रवृत्ति नाट्य का रूप धारण करती है। त्यों ही मानों रूपक का बीजरोपण होता है। बस यही नाट्य-कला का आरम्भ है।

रूपक के विकास के मुख्य साधन महाकाव्य और गीतकाव्य हैं। ऋतुओं के परिवर्तन को देख कर डर के कारण लोग ईश्वर से प्रार्थना करते थे, जिसमें नाट्य के दो अंग— नाचना और गाना— होते थे। धार्मिक उत्सवों में भी नृत्य, गीतादि होते थे। (आज भी होली आदि के अवसरों पर हम इस प्रथा के अवशेष देखते हैं)। गेहूँ आदि की फ़सल हो जाने पर भी लोग नाच और गाने के साथ ईश्वर का धन्यवाद करते थे। इसके साथ साथ स्वांग भी निकालते थे। ये सब वास्तव में रूपक (अथवा नाटक) के पूर्व रूप ही है।

महाभारत में भी 'नट' शब्द का उल्लेख मिलता है। नाटक के अभिनेता या नृत्य करने वाले को ही नट कहते है। नट और नाटक दोनों नट् अथवा नृत धातु से निकले हैं:— "नटति नृत्यति वा यः स नटः"। हरिवंश (जो कि महाभारत का ही परिशिष्ट है) में रामायण से कथा लेकर नाटक खेलने का उल्लेख है। परन्तु इसका अपना रचना-काल भी संदिग्ध है।

३०० ई० पूर्व पाणिनि ने अपने व्याकरण में नाट्य-शास्त्र के 'कृशाश्व' और 'शिलालिन' इन दो आचार्यों के नाम दिए है। इसके १५० वर्ष पश्चात् पतंजलि ने 'कंस-वध' और 'बलि-बन्ध' का उल्लेख किया है, जिस से पता चलता है कि उस समय रंगशालाओं में नाटक होते थे और दर्शक लोग देखने जाते थे।

आर पिशचल के विचार में भारत में सब से पहिले कठपुतलियों का नाच आरम्भ हुआ था। इस का उल्लेख महाभारत,

कथा-सरित्सागर और बाल-रामायण आदि में मिलता है। पुतलियों को रंगमञ्च पर यथा-स्थान रखने या सजाने वाला स्थापक कहलाता था और जो व्यक्ति कठपुतलियों के तागे हाथ में पकड़ कर उन को नचाता था वह 'सूत्रधार' कहलाता था। कहते हैं संस्कृत नाटक में 'स्थापक' और 'सूत्रधार' शब्द इन्हीं पुतलियों के खेल से लिए गए हैं। (और धीरे धीरे नाटक से स्थापक का लोप हो गया; उस का काम भी सूत्रधार ही करने लग गया।) परन्तु प्रो० हिलीब्रां का विचार है कि कठपुतलियों के नाच से कहीं पहले नाटक का आरम्भ हुआ होगा, क्योंकि नाटक तो स्वयं कठपुतलियों के नाच का आधार है।

प्रो० ल्यूडर्स ने कहा है कि छाया नाटकों में नाटक के बीज मिलते हैं। यह छाया नाटक ही सम्भवतः आजकल के सिनेमा के मानों मूल आधार थे। चमड़े की कठपुतलियां बना कर प्रकाश के आगे नचाते थे। उनकी छाया आगे टंगे हुए पर्दे पर पड़ती थी। परन्तु, उलटे इन का भी आधार नाटक ही हो सकता है।

तो आखिर नाटक आया कहां से ? इसके बीज हम किधर ढूंढें ?

इस का उत्तर यही है कि वेद तथा वैदिक यज्ञ, रामायण तथा महाभारत, कठपुतलियों के नाच अथवा छाया नाटक, धार्मिक उत्सव तथा लौकिक क्रियाओं सब में नाटक के अंश वर्तमान हैं। कोई एक मत इसके भिन्न भिन्न उपकरणों की गुत्थी को सुलझा नहीं सकता। नाटक को अपने असली रूप में आने में कई शताब्दियां लगीं। जो भी नई चीज़ इसके आगे आई उसे इसने अपने अन्दर समा लिया—परन्तु अपनी वैयक्तिक विशेषताओं को नहीं छोड़ा।

विण्डिश आदि कई महानुभावों का विचार है कि भारतीय नाट्यकला पर यूनानी प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा है। वे कहते हैं यूनानी नाटक से ही संस्कृत नाटक का जन्म हुआ है। संस्कृत नाटक के 'यवनिका'

तथा 'यवनी' आदि शब्दों पर बड़ा ज़ोर दिया गया है कि ये यवनों अर्थात् यूनानियों से ही लिए गए हैं। परन्तु संस्कृत नाटक में 'यवनियां' राजा की अंग-रक्षक हैं जो कि यूनानी नाटक में नहीं हैं। और यवनिका का अर्थ 'पर्दा' है। परन्तु यूनानी नाटक में तो पर्दा था ही नहीं। शायद पर्दे के लिए कपड़ा विदेश से मंगाया जाता हो। और विदेशियों के लिए भारतीय प्राय: यवन शब्द का प्रयोग करते हों। वैसे भी संस्कृत नाटक की आत्मा यूनानी नाटकों से सर्वथा विभिन्न है। यूनानी नाटकों में दु:खान्त और सुखान्त दोनों प्रकार के नाटक मिलते हैं। परन्तु हमारे यहां तो ऐसा कोई झगड़ा ही नहीं। संस्कृत नाटकों में हत्या, युद्ध आदि के दृश्य वर्जित हैं, यूनानी नाटकों में नहीं।

भारत वासियों ने तो यूनानी भाषा कभी अच्छी तरह सीखी ही नहीं। और फिर हम ने तो उस समय भी अच्छे अच्छे नाटक तैयार कर लिए थे जिस समय यूनानियों में नाट्य कला का विकास अभी आरम्भ ही हुआ था। अत: सिद्ध है कि संस्कृत नाट्यकला पर कोई यूनानी प्रभाव नहीं। ये दोनों नाट्यकलाएँ पृथक् पृथक् स्वत: समृद्ध हुईं।

नागानन्द-कथावस्तु:—

'नागानन्द' पाञ्च अंकों का नाटक है। इस की कथा एक बौद्ध कथा है। इस में जीमूतवाहन का आत्मत्याग दरशाया है। नाटक की प्रस्तावना में यह बताया है कि इस की कथा विद्याधर जातक से ली गई है। जातकमाला में कहानी रूप में श्री बुद्ध के पूर्वजन्मों में किए गए सत्कर्मों का वर्णन है। इस समय इस जातकमाला में 'विद्याधर जातक' नामी कोई कहानी नहीं। सम्भवत: वह हस्तगत नहीं हुई।

यह कथा सर्व-प्रथम बृहत्कथा में मिलती है। परन्तु अब यह ग्रन्थ भी प्राप्य नहीं है। वहां से यह कथा 'कथासरित्सागर' तथा

बृहत्कथा मञ्जरी में उद्धृत हुई। जीमूतवाहन की कथा इन दोनों ग्रन्थों में दो बार मिलती है— पहिली बार संक्षेप में और दूसरी बार विस्तार से। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु इस संक्षिप्त रूप से अधिक मिलती है। यहां कहीं कुछ भेद अवश्य हैं, यथा, तृतीय अङ्क पूर्णतया हमारे नाटककार की अपनी कल्पना है।

जीमूतवाहन एक विद्याधर राजकुमार है। उसके पिता महाराज जीमूतकेतु राजकार्य छोड़ कर वन में शान्त जीवन व्यतीत करने आते हैं, तो स्वयं जीमूतवाहन भी, राज्य का भार मन्त्रियों को सौंप, माता-पिता की सेवा करने के लिए वन में ही आ रहता है। पिता के कहने पर जीमूतवाहन अपने साथी विदूषक के साथ उनके निवासार्थ कोई और अच्छा स्थान खोजने के लिए मलय पर्वत पर आता है। यहां किसी वीणा की गुञ्जार उनके कानों में पड़ती है। यह ध्वनि गौरी के मन्दिर की ओर से आ रही होती है। दोनो मन्दिर की ओर बढ़ते हैं। क्या देखते हैं कि एक सुन्दर सिद्ध कन्या वीणा बजा रही है और उस की सखी पास बैठी है। वीणा वादन के पश्चात् वह कन्या अपनी सहेली को बताती है कि देवी गौरी ने मुझे स्वप्न में दर्शन देकर वर दिया है कि तेरा पति विद्याधर सम्राट् होगा। चतुर विदूषक नायक को बलात् मन्दिर में ले जाकर वहां दोनो का परस्पर साक्षात्कार कराता है। एक दूसरे को देखते ही दोनों को परस्पर प्रेम हो जाता है। परन्तु दोनो प्रेमी भीरू हैं और हैं लज्जाशील। ज्यों त्यों करके परस्पर प्रेम प्रकट करते ही हैं कि आश्रम से एक तपस्वी आता है और नायिका को लेकर चला जाता है।

दूसरे अङ्क में नायिका मलयवती प्रेम-विह्वल दिखाई गई है। वह चन्दनलता गृह में एक शिलामञ्च पर बैठी है। तभी राजा (जीमूतवाहन) प्रवेश करता है। वह भी उतना ही व्याकुल है। वह

विदूषक से कहता है कि मैं स्वप्न में अपनी प्रिया को इस चन्दनलतागृह में मिला हूँ। अतः आओ इधर ही चलें। उनके आने का शब्द सुन कर दोनों कन्याएँ उठ कर चली जाती हैं और एक अशोक वृक्ष के पीछे जा छुपती हैं। नायक विदूषक को अपने स्वप्न की वार्ता सुनाता है और नायिका सुन रही है। नायक अपनी प्रिया का चित्र बनाता है। वहीं मित्रावसु आता है और अपनी बहिन के साथ विवाह का प्रस्ताव रखता है। परन्तु जीमूतवाहन इसे स्वीकार नहीं करता। उसे नहीं मालूम कि जिसे वह प्यार करता है वही मित्रावसु की बहिन है और अज्ञानवश उसी का हाथ वह ठुकरा रहा है। मित्रावसु चला जाता है। मलयवती, जो छुपे छुपे यह सब देख और सुन रही है, निराशा से इस अपमान को न सह सकती हुई आत्महत्या का निश्चय करती है। मित्रावसु को देखने के बहाने वह अपनी चेटी को भेज देती है। परन्तु चेटी भांप जाती है और जाने की बजाए समीप ही छुप जाती है। अपने आप को अकेली जानकर मलयवती अपने गले में फन्दा डालती है, परन्तु चेटी उसे रोक लेती है और सहायता के लिए पुकारती है। जीमूतवाहन वहीं पहुँचता है और अपना बनाया चित्र दिखा कर उसे विश्वास दिलाता है कि वह उसी से प्रेम करता है। तभी दासी आकर सूचना देती है कि जीमूतमाहन के पिता ने यह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है और क्योंकि विवाह आज ही होना निश्चित हुआ है अतः राजकुमारी को शीघ्र बुलाया है।

तीसरे अंक में विवाहोत्सव का वर्णन है। इस अंक का विष्कम्भक अत्यन्त हास्यप्रद है। मक्खियों से बचने के लिए विदूषक विवाह में प्राप्त वस्त्र ओढ़े हुए है। परन्तु विट ग़लती से उसे इस वेश में अपनी प्यारी नवमालिका समझता है। और उस से आलिङ्गन करता है। तभी नवमालिका आ जाती है और हँसी मज़ाक बढ़ जाता है।

विष्कम्भक के पश्चात् हम प्रेमियों को बग़ीचे में प्रसन्नता पूर्वक घूमते देखते हैं। यहां बड़ी सजीव वार्तालाप मिलती है। नायक कई सुन्दर पद्यों में अपनी नवोढा प्रियतमा की सुन्दरता का वर्णन करता है। फिर 'वर्ण' शब्द पर श्लेष मिलता है:—

"श्रुतं त्वया भर्तृदारिकां कथं वर्णयति ?"

"अद्य पुनरहं त्वां वर्णयामि।"

परन्तु वर्णन करने के स्थान चेटी विदूषक के मुख को तमाल के पत्तों के रस से काला कर देती है।

यहीं मित्रावसु द्वारा जीमूतवाहन को समाचार मिलता है कि उस का राज्य मतङ्ग ने हस्तगत कर लिया है। परन्तु वह इस से ज़रा विचलित नहीं होता। उदासीनता की बजाए उस के मुख पर पूर्ववत् प्रसन्नता ही दिखाई देती है। मित्रावसु उसकी अनुमति मांगता है कि सिद्ध सेना ले जाकर वह उसके शत्रु को परास्त करके उस का राज्य लौटा लाए, परन्तु जीमूतवाहन यह कह कर उसे रोक देता है कि—

"स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यादयाचितः कृपया
राज्यस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये।"

अन्तिम दो अङ्क कथावस्तु को सर्वथा बदल देते हैं। प्रेम का स्थान त्याग ले लेता है। एक दिन मित्रावसु के साथ समुद्र के किनारे भ्रमण करते करते जीमूतवाहन को हड्डियों का एक ढेर दृष्टिगोचर होता है। पूछने पर उसे पता लगता है कि यह उन साँपों की हड्डियां हैं जो प्रतिदिन गरुड को आहारार्थ भेंट दिये जाते हैं। यह सुनकर वह निश्चय करता है कि मैं अपना जीवन दान करके भी इन सांपों की रक्षा करूँगा। इसी समय एक सन्देशवाहक मित्रावसु को बुला ले जाता है और जीमूतवाहन अकेला रह जाता है। किसी का करुण रोदन उसके

कानों में पड़ता है। यह शङ्खचूड की माता है। आज उस के बच्चे की बारी है। जीमूतवाहन उसको ढारस बन्धाता है और शङ्खचूड़ की जगह मरने के लिए अपने आप को प्रस्तुत करता है। परन्तु मां-बेटा इसे नहीं मानते और उसकी वीरता, साहस तथा दक्षिणता की बड़ी सराहना करते हैं। जब वे दोनों मन्दिर में पूजा के लिए प्रवेश करते हैं तो गरुड़ देव पधारते हैं। जीमूतवाहन अपने आप को भेंट करता है और गरुड़ उसे ही लेकर चला जाता है। स्वर्ग से देवता लोग पुष्पवृष्टि करते हैं और दुन्दुभियां बजाते हैं।

अन्तिम अंक जीमूतवाहन के श्वशुर की चिन्ता के साथ प्रारम्भ होता है। गरुड़ के आने का समय हो गया है और दामाद अभी तक समुद्र-तट से लौटा नहीं। वह द्वारपाल सुनन्द को जीमूतकेतु के पास यह जानने के लिए भेजते हैं कि शायद जीमूतवाहन उधर पहुँच गया हो। परन्तु वह वहां भी नहीं है। जीमूतकेतु की बाईं आंख फरकती है— बड़े अपशकुन की बात है। उसी समय एक मुकुट-मणि उन के आगे आ गिरता है। वृद्धा कहती है कि यह तो मेरे पुत्र का ही दीखता है, परन्तु सुनन्द कहता है कि यह किसी नाग का हो सकता है। सुनन्द को यह पता लगाने के लिए लौटा दिया जाता है कि कुमार अपने श्वशुराल पहुंच गये हैं कि नहीं। तभी शङ्खचूड़ आकर गरुड़ द्वारा जीमूतवाहन के उठाए जाने की वार्ता सुनाता है। सब रोने लगते हैं और अग्नि प्रवेश करने का निश्चय करते हैं। परन्तु शङ्खचूड़ प्रार्थना करता है कि पहिले गरुड़ को ढूंढना चाहिए। सम्भव है कि अभी तक उस ने जीमूतवाहन को न मार डाला हो। उधर गरुड़ नायक के धैर्य को देख विस्मित है और जानना चाहता है कि उस का आज का शिकार कौन है। तभी शङ्खचूड़ आकर उसे बताता है कि यह विद्याधर कुलमणि जीमूतवाहन हैं। अपनी ग़लती जान कर गरुड़ को बड़ा

पश्चाताप होता है। वह आत्महत्या करना चाहता है। उसी समय नायक के माता पिता तथा पत्नी भी वहां पहुंचते हैं। कितना करुणा-जनक दृश्य है! गरुड़ नायक से ही पूछता है कि मेरे पापों का प्रायश्चित क्या है। जीमूतवाहन उसे उपदेश देता है कि किए पाप का पश्चाताप और भविष्य में जीव हत्या न करना। इतने में नायक को पीड़ा बढ़ जाती है। उस की आंखें बन्द हो जाती हैं और वह गिर पड़ता है। फिर रोदन तथा विलाप होने लगता है। गरुड़ बड़ा लज्जित होता है। वह नायक को जिलाने के लिए अमृत लाने स्वर्ग को चला जाता है। जीमूतकेतु शङ्खचूड़ को चिता रचने के लिए कहते हैं। सब का एक साथ मरने का निश्चय है। तभी मलयवती के आह्वान पर देवी गौरी प्रकट होती हैं। जीमूतवाहन को पुनर्जीवित करके उसे खोए हुए राज्य पर प्रतिष्ठापित कर देती हैं। उधर गरुड़ स्वर्ग से अमृत लाता है जिस की वर्षा से उसी के द्वारा मारे गए सब सांप जी उठते हैं और गरुड़ प्रतिज्ञा करता है कि अब मैं सांपों से ऐसा क्रूर बदला नहीं लूंगा।

इसी लिए इस नाटक का नाम 'नागानन्द' पड़ा है—अर्थात् "नागों का आनन्द"।

नाटक का कर्ता

श्री हर्ष के नाम से तीन नाटक— रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द— दो स्तोत्र और कुछ फुटकल कविता हमें प्राप्त हुई है।

तीनों नाटक एक ही हाथ की कृतियां हैं। इस पक्ष के समर्थन में हमारे पास कई प्रमाण हैं। सब की प्रस्तावना में श्री हर्ष को सिद्ध-हस्त कवि बताया गया है। प्रियदर्शिका के दो श्लोक नागानन्द में भी मिलते हैं और एक श्लोक रत्नावली में। कई गद्यांश भी मिलते जुलते हैं और कई स्थितियां भी एक जैसी हैं तीनों नाटकों में भाव, रस और शैली की इतनी समानता है कि एक को दूसरे से अलग करना असम्भव है।

फिर वह कर्ता कौन है? इस विषय में मम्मट की उक्ति ने संशय उत्पन्न कर दिया है, जिस से साहित्यकों में मत-भेद है। अपने ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' के आरम्भ में उन्हों ने लिखा है— "काव्यं यशसेऽर्थकृते। कालिदासादीनामिव यशः। श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्।" कहीं कहीं 'धावक' के स्थान पर 'बाण' का भी नाम है। जिस से पिशल आदि कई विद्वान 'धावक' को और हॉल तथा ब्युह्लर आदि कई महानुभाव 'बाण' को इन नाटकों का कर्ता मानते हैं। "अर्थकृते" ही उनके इस निश्चय का आधार है। उन का कहना है कि इन्हों ने लिखकर धन के लिए इन को राजा हर्ष के पास बेच दिया, जिस ने अपने नाम के नीचे प्रकाशित किए। परन्तु ऐसा समझना भ्रान्ति है। मम्मट की उक्ति तो श्री हर्ष की उदारता और दानशीलता

की ओर ही संकेत करती है। धावक के बारे में तो हम कुछ जानते ही ही नहीं; और इन नाटकों को बाण द्वारा रचित बताना तो सर्वथा भूल है। इन नाटकों की शैली बाण के हर्षचरित से इतनी विभिन्न है कि ये उसी लेखनी के हो ही नहीं सकते। और फिर ब्राह्मण होते हुए बाण भला बौद्ध कथा 'नागानन्द' कैसे लिख सकता था।

सम्भवतः यह संशय इस लिए भी उठा हो कि कोई राजा कवि अथवा नाटककार कैसे हो सकता है ? परन्तु यह कोई असम्भव बात नहीं है। और इतिहास में केवल हर्ष ही नहीं और भी कई राजा-लोग अच्छे लेखक हुए हैं। यथा— शातवाहन हल, समुद्रगुप्त, प्रवरसेन वाकाटक, महेन्द्रविक्रमवर्मन, यशोवर्मन्, मुञ्ज, भोज, विग्रहराजदेव, मयूरराज और शूद्रक इत्यादि कई राजालोग साहित्यकार भी हुए हैं। अतः किसी राजा का लिखारी होना किसी आधुनिक समालोचक के लिए आश्चर्यजनक नहीं होना चाहिए। अतः हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि ये नाटक राजा हर्ष की ही कृतियां हैं। बाण ने भी उसके अच्छे कवि होने की प्रशंसा की है। मधुसूदन ने कहा है कि रत्नावली श्री हर्ष ने लिखी। इत्सिंग ने नागानन्द के अभिनय होने का उल्लेख किया है। सोडढ्ल ने हर्ष को राजा-कवियों में गिना है। जयदेव ने भी भास और कालिदास आदि के साथ हर्ष का नाम लिया है और सुभाषितावलियों में भी कई पद्य हर्ष के बताए हैं। उनमें से कई इन नाटकों में से है। ताम्रपत्रों में भी हर्ष की कविता के दो उदाहरण मिलते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यह हर्ष कौन था ? इतिहास में ऐसे चार नाम मिलते हैं—

(i) काश्मीर-राज हर्ष;
(ii) धारानरेश भोज का पितामह हर्ष;

(iii) मातृगुप्त का आश्रय-दाता उज्जयिनी-नरेश हर्ष विक्रमादित्य;

(iv) कान्य कुब्ज का राजा हर्ष वर्धन।

विल्सन ने रत्नावली काश्मीर नरेश हर्ष (१११३—२९ ई०) की बताई है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि पाञ्च बार क्षेमेन्द्र (११वीं शताब्दी) और एक बार दामोदर गुप्त (८वीं शताब्दी) ने इस नाटिका का उल्लेख किया है। इस लिए रत्नावली का कर्ता ८वीं शताब्दी से कहीं पहिले का होना चाहिए।

इसी कारण से ही हम धारानरेश भोज के पितामह हर्ष को भी इन नाटकों का कर्ता नहीं मान सकते क्योंकि उन का समय ६४८ से ९७९ ई० था। और उज्जयिनीनरेश हर्ष विक्रमादित्य के तो ऐतिहासिक व्यक्ति होने में भी सन्देह है।

अतः कान्यकुब्ज के राजा हर्ष वर्धन ही इन नाटकों के रचयिता हो सकते हैं। इस विषय में इत्सिंग की साक्षी उल्लेखनीय है। उस ने कहा है कि राजा शिलादित्य (हर्षवर्धन का दूसरा नाम) ने बोधित्सत्व जीमूतवाहन की कथा लिख कर उसका अभिनय करवाया और इस प्रकार इस कथा को लोकप्रिय बनाया। बाण ने भी हर्ष की विद्वत्ता की प्रशंसा की है और विशेषतः काव्यकला में उसकी मौलिकता की सराहना की है।

श्री हर्ष वर्धन

श्री हर्ष थानेसर के राजा प्रभाकर वर्धन के द्वितीय पुत्र थे। उन का जन्म ५६० ई० के लग भग हुआ। उन की माता का नाम यशोवती था। राज्यवर्धन उनके बड़े भाई थे और राज्यश्री छोटी बहिन, जिस का विवाह क़न्नौज के मौखरी राजकुमार ग्रहवर्धन से हुआ था। ६०५ में पिता की मृत्यु के पश्चात् राज्यवर्धन राजा बने।

मालवा नरेश ने गौडराज शशाङ्क के साथ ग्रहवर्मन् पर आक्रमण कर के उसे मार दिया, राज्यश्री को कैद कर लिया और थानेसर की ओर बढ़ने लगे। राज्यवर्धन ने उनको परास्त किया। परन्तु शशाङ्क ने धोके से राज्यवर्धन को मार डाला और विधवा राज्यश्री विन्धयाचल के जङ्गल की ओर भाग गई।

हर्षवर्धन राजा घोषित हुए। वे अपनी बहिन की खोज में निकले और ठीक उस समय उसे जा मिले जबकि वह आत्महत्या करने ही लगी थी। अब वे अपने शत्रुओं को परास्त कर अपना राज्य विस्तार करने लगे। राज्य के कुछ ही वर्षों में उन्हों ने समस्त उत्तर भारत को अपने राज्य में मिला लिया। और ६१२ ई० में महाराजाधिराज बन गए।

अब दक्षिण भारत में भी अपने राज्य का विस्तार करने के लिए वे सेना को दक्षिण की ओर ले चले। परन्तु चालुक्यवंशी पुलकेशिन द्वितीय से ६२० के लगभग परास्त हुए। परन्तु उत्तर भारत पर उनका निष्कण्टक आधिपत्य बना रहा। कहते हैं १८ राजा लोग उन के आधीन थे। आसाम तथा वलभि के नरेशों ने भी उन से मित्रता बना रखी थी।

स्वयं महावीर तथा विजेता होते हुए भी श्री हर्ष प्रजा को धार्मिक सहिष्णुता सिखाते थे। उन के राज्य में बौद्धों तथा ब्राह्मणों

में परस्पर द्वेष भाव नहीं था। स्वयं वे शैव थे परन्तु सूर्य तथा बुद्ध की भी पूजा करते थे। ह्यूनसांग बताते हैं कि वृद्धावस्था में वे बौद्ध ही हो गए थे।

ह्यूनसांग ने हर्ष के राज्य की एक और रोचक घटना का उल्लेख किया है। क़न्नौज तथा प्रयाग में उन्हों ने कई धार्मिक समारोह किए। एक अवसर पर इनके आधीन सारे राजा लोग और मित्र नरेश सम्मिलित हुए। यह ६४३ ई० की वसन्त ऋतु की वार्ता है। बुद्ध तथा अन्य देवताओं की मूर्तियों के जलूस निकाले गए, सोने तथा मोतियों के दान किए गए, कई भोज हुए और धार्मिक वादविवाद।

इस के अतिरिक्त श्री हर्ष प्रयाग में प्रति पांच वर्ष गङ्गा तथा यमुना के संगम पर भारी सम्मेलन किया करते थे और अपना सारा धन बांट दिया करते थे।

सम्भवत: इन्हीं अवसरों पर इनके नाटकों का भी अभिनय हुआ करता था; क्योंकि प्रस्तावना में नाना दिशाओं से आए हुए राज-समूहों का उल्लेख है:— "नाना दिग्देशागतेन राज्ञ: श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्त:" इत्यादि।

श्री हर्ष स्वयं कवि तथा नाटककार थे। साथ ही कई कवियों के आश्रयदाता भी थे, वे बड़े गुणग्राही थे। उनके दरबार में बाण, मयूर, मतङ्ग, दिवाकर आदि कई प्रशस्त कवि रहा करते थे जिन्हें वे अनेक उपहार दिया करते थे।

६४६ ई०. के अन्त में अथवा ६४७ ई०. के आरम्भ में श्री हर्ष की मृत्यु हुई। सम्भवत: वे अविवाहित थे। अपने पीछे वे कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ गए।

महाकवि बाण ने "हर्षचरित" लिख कर उन्हें अमर कर दिया है।

श्री हर्ष की नाट्यकला

आधुनिक काल में श्री हर्ष के नाटकों की जितनी श्लाघा होनी चाहिए थी उतनी नहीं हुई। इस का एक मात्र कारण यही है कि ये नाटक कालिदास के नाटकों की तुलना नहीं कर सकते। रत्नावली तथा प्रियदर्शिका दोनों नाटिकाओं की मौलिकता सम्भवतः महत्वपूर्ण नहीं है, परन्तु दोनों की कथावस्तु प्रभावशाली अवश्य है। दोनों में सरलता तथा विचक्षणता है। रत्नावली में जादूगर के करतब हास्य और उल्लास से भरे हुए हैं। तोते का अपसरण और चहचहाना बड़ी सरसता से चित्रित किया है। प्रियदर्शिका का गर्भांक भी आनन्ददायी है। चौथे अङ्क में षड्यन्त्र भी क्या सफ़ाई से निभाया है!

श्री हर्ष का वत्सराज उदयन और वासवदत्ता दोनों भास के नायक और नायिका से कहीं विभिन्न हैं और निकृष्ट भी। रत्नावली की सुसङ्गता एक विनोदप्रिय बालिका है जो नायिका से ख़ूब उपहास करती है। हर्ष ने विदूषक को बड़ा लालची चित्रित किया है, परन्तु उस में पर्याप्त विनोदप्रियता नहीं है। हां, अपने स्वामी के लिए उस का प्रेम अवश्य सच्चा है— यहां तक कि रत्नावली में तो वह उस के साथ मरने को भी तैयार है।

नागानन्द में श्री हर्ष ने आत्मत्याग, दान, दक्षिणता और मृत्यु के सन्मुख भी धीर बने रहने के शुभ गुणों को चित्रित किया है और वह भी बड़ी सफलता के साथ। जीमूतवाहन बौद्ध विचारों का एक आदर्श है, जिस का यह निश्चय है कि दूसरों के लिए आत्म-त्याग मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है। शङ्खचूड़ और उसकी माता का चरित्र भी श्रेष्ठ दिखाया है।

विदूषक अत्रेय मूर्ख और ग्राम्य है। वह मक्खियों से बचने के लिए आवरण ओढ़े हुए है। विट शेखरक उसे अपनी कान्ता नवमालिका समझ कर उससे आलिङ्गन करता है। परन्तु जब नवमालिका आती है तो उसे विदूषक पर बहुत क्रोध आता है; और चाहे वह ब्राह्मण है फिर भी उसे नवमालिका के आगे झुकाता है और बलात् मद्यपान भी करवाता है। कुछ देर पश्चात् नव-विवाहित जोड़े के सन्मुख नवमालिका विदूषक के मुख पर तमालरस मल कर उस का उपहास करती है।

मित्रावसु के कथन में कितना ओज और उत्साह भरा है जब वह जीमूतवाहन से कहता है कि आप के "हां" कहने की देर है, बस आप के सब शत्रुओं का शीघ्र ही समूलनाश हो जाएगा। परन्तु जीमूतवाहन के अपने कर्तव्य के प्रति और ही विचार हैं। वह कहता है—

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यामयाचितः कृपया।
राज्यस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये ?

अर्थात्— "करुणा से, मैं बिना मांगे ही दूसरे के लिए ख़ुशी ख़ुशी अपना जीवन ही दे दूँ। फिर (केवल मात्र) राज्य के लिए मैं प्राणियों के वध की अनुमति कैसे दे सकता हूँ?" यह उक्ति अति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह हमें नायक के त्याग के लिए तैयार कर देती है। मरते समय वह गरुड़ को इसी विषय पर उपदेश देता है।

नागानन्द के अन्तिम दो अङ्कों में श्री हर्ष नए रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। यहां हमें उस की अद्भुत तथा अलौकिक में रुचि मिलती है। चाहे नाटक की प्रेरणा बौद्ध सिद्धान्तों से मिली है, फिर भी जीमूतवाहन को पुनर्जीवित करने के लिए भगवती गौरी का समावेश किया गया है।

पांचवें अङ्क में नायक के माता पिता तथा पत्नी को लाने से नायक का बलिदान और भी अधिक प्रभावोत्पादक हो गया है। इस से करुणा रस की वृद्धि हुई है। अन्तिम दृश्य में नायक के लिए उस के माता पिता तथा पत्नी के द्वारा किए गए विलाप कितने करुणा-जनक हैं!

यह मानना पड़ेगा कि नागानन्द के दो विभिन्न भाग हैं और कि दोनों में निश्चय ही कोई समस्वरता नहीं। पहिले तीन अंकों में शृंगारिक तथा हास्यजनक दृश्य हैं और अन्तिम दोनों में करुणाजनक। परन्तु नाटक में शृंगार अथवा करुणा दोनों में से कोई भी रस प्रधान नहीं दीखता। प्रधानता तो वीर रस की है। वीरता केवल युद्ध करने और विजय प्राप्त करने में ही नहीं होती। वीरता जीमूतवाहन के त्याग में है, राज्य छोड़ कर माता-पिता की सेवा के लिए वन जाने में है, वीरता दूसरे की रक्षा के लिए अपना जीवन अर्पण करने में है, और वीरता दुःख तथा कष्ट में भी शान्त रहने में है। स्वयं गरुड़ भी नायक की इस वीरता से प्रभावित होता है।

हां, हम कह रहे थे नागानन्द कई भावों तथा रसों की एक मिश्रित कृति है। फिर भी सामूहिक प्रभाव असफल नहीं है। तीसरे अङ्क के प्रभावशील प्रहसन ने अन्तिम भाग की गम्भीरता का पर्याप्त सन्तुलन किया है।

श्री हर्ष का विशेष गुण शृङ्गार पद्यों में दृष्टिगोचर होता है जैसे नागानन्द में नव विवाहिता वधू की लज्जाशीलता के वर्णन में और रत्नावली में धनुर्धारी कामदेव के अचूक निशाने के वर्णन में। नागानन्द में अपनी प्रियतमा की शारीरिक सम्पूर्णता अथवा अदोषता के बारे में हर्ष का वर्णन ठीक भारतीय रुचि के अनुसार ही है।

श्री हर्ष को प्राकृत वर्णन भी प्रिय है। कल्पना तथा लालित्य में वह कालिदास से कहीं पीछे है, परन्तु उस के पास सरलता तथा

भाव-व्यञ्जना के महान गुण हैं। उसकी सँस्कृत आदर्श तथा नियमबद्ध है। उसका शब्द तथा अर्थालङ्कारों का प्रयोग संयमित है जिससे रसानुभूति कहीं शिथिल नहीं होती।

हर्ष की प्राकृत प्राय: शौरसेनी प्राकृत है। श्लोकों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग है। नौकर द्वारा बोली गई प्राकृत मागधी है। इन प्राकृत रूपों को देखकर हम नि:संशय कह सकते हैं कि श्री हर्ष ने बड़ी सावधानी से प्राकृत व्याकरण का अध्ययन कर रखा था।

उसके प्रयुक्त छन्दों को देखने से ऐसा लगता है कि उस ने अपने पूर्व के नाटककारों के सरल छन्दों को नहीं अपनाया, अपितु कठिन और विस्तृत छन्दों का प्रयोग किया है। ऐसे छन्द अभिनय के लिए इतने प्रयुक्त नहीं, परन्तु वर्णन के लिए अधिक अवसर प्रस्तुत करते हैं। शार्दूलविक्रीडित उस को अधिक अभीष्ट है। स्रग्धरा, श्लोक और आर्या इस से कम प्रयुक्त हुए हैं। और शालिनी तथा हरिणी सब से कम।

श्री हर्ष की शैली विशेष रूप से सरल है। उस का गद्य अलंकारों से अछूता है। और आश्चर्य की बात यह है कि ऐसी सरलता उस समय अपनाई गई जब कि साहित्यकार बाण की ओज पूर्ण शैली का अनुकरण कर रहे थे। पद्यों में भावुकता पूर्ण वर्णन अवश्य हैं परन्तु वे सीमा-बद्ध हैं और उपयुक्त हैं। उस की शैली लगातार एक जैसी अच्छी है। न कभी वह इस स्तर से बहुत ऊँचे ही उठ पाए हैं और न ही कभी इस से नीचे ही गिरे हैं।

श्री हर्ष ने कहीं नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं किया। कई बार तो ऐसा लगता है जैसे उनके नाटक जीवन की अनुभूति से नहीं वरन् नाट्य शास्त्र के ज्ञान से उत्पन्न हुए हों। यदि नाट्य-शास्त्र में भरतमुनि ने कहा है कि उसने सर्वप्रथम अभिनय इन्द्रोत्सव पर किया तो हर्ष का नागानन्द भी इन्द्रोत्सव के दिन ही

अभिनीत हुआ है। इसी प्रकार नाटिकाओं का अभिनय वसन्तोत्सव पर बताया है तो श्री हर्ष की दोनों नाटिकाएँ वसन्तोत्सव पर ही खेली गईं। इसी कारण ही साहित्यकारों ने रत्नावली की बहुत श्लाघा की है।

नाट्यशास्त्र में इस बात की मनाही है कि कोई मरा हुआ मनुष्य रङ्गमञ्च पर दिखाया जाए। परन्तु यदि उस पुरुष ने फिर से जीवन प्राप्ति कर लेनी हो (जैसे जीमूतवाहन ने की) तो उसे दिखाने में कोई दोष नहीं।

जीमूतवाहन के आत्म-त्याग से तो वास्तविक दुःखान्त नाटक की सूचना मिलती है। परन्तु नाट्य शास्त्र में दुःखान्त नाटकों का निषेध है। इस लिए गौरी के हस्त-क्षेप का आवाहन किया गया है ताकि आत्म-त्याग का पूर्ण फल शीघ्र ही इसी जन्म में ही मिलता दिखाया जा सके। कितनी चतुर और विलक्षण युक्ति है।

यह सच है कि श्री हर्ष का आदर्श कालिदास था। उस के नाटकों का इन के नाटकों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। नाटिकाओं में कई स्थलों पर मालविकाग्निमित्र के स्मारक मिलते हैं जैसे रत्नावली के बन्दर में मालविकाग्निमित्र के डरौने बन्दर की याद आ जाती है। और साङ्कृत्यायनी तो साक्षात् कौशिकी का ही मानो अवतार है। प्रियदर्शिका में नायिका का मधुकरों से त्रस्त हो कर नायक से साक्षात्कार होना कालिदास के शाकुन्तला के पहिले दृश्य का अनुकरण मात्र प्रतीत होता है।

नागानन्द में भी कालिदास का प्रभाव कई स्थलों पर दिखाई देता है। प्रथम अङ्क में जब नायक विदूषक के साथ मलय पर्वत पर पहुंचता है तो उस की दाईं आंख फरकती है:—

"दक्षिणं स्पन्दते चक्षुः फलाकाङ्क्षा न मे क्वचित्"

यह राजकुमारी मलयवती से मिलने की ओर संकेत है, जो कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल में आई निम्न उक्ति का अनुकरण प्रतीत होता है:—

"शान्तमाश्रम पदं, स्फुरति च बाहुः, कुतो फलमिहास्य" इत्यादि।

तृतीय अंक में नायक कहता है:—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
याता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया॥

अब इस उक्ति का यह कोई उपयुक्त अवसर नहीं है। उन का विवाह अभी ही हो कर हटा है। स्पष्ट है कि कवि ने कालिदास के कुमारसम्भव में आए निम्न पद्य का अनुकरण किया है:—

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयितं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥८, २॥

फिर भी, चाहे श्री हर्ष कालिदास आदि अपने पूर्व कालीन कवियों तथा नाटककारों का ऋणी है, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि उस में मौलिकता है ही नहीं। रत्नावली में उपवन के दृश्य में बन्दर के मैना को उड़ाने की बात हमारे नाटककार की अपनी है। और प्रियदर्शिका में दिया गर्भाङ्क तो अपनी किसम का सर्व प्रथम उदाहरण है।

नागानन्द के दोष

किसी भी मानव कृति का सर्वथा दोष रहित होना असम्भव है। नागानन्द में भी कई दोष दृष्टिगोचर होते हैं, यथा:—

१. पहिले तीन अंकों तथा अन्तिम दो अंकों की कथावस्तु में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। इस सम्बन्ध को बनाने के लिए कहीं कहीं नायक के आत्म-त्याग के उल्लेख घुसेड़े से गए लगते हैं। परन्तु एकता का प्रभाव बन नही पड़ा। एक भाग को पढते समय हम दूसरे भाग की कहानी भूल से जाते है। एक का अस्तित्व दूसरे के विकास के लिए आवश्यक नहीं।

२. प्रथम अंक में भगवती गौरी के मन्दिर में नायक तथा नायिका मिलते हैं और परस्पर प्रेमालाप करके बिछुड़ जाते हैं। यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि दूसरा व्यक्ति है कौन ? हालांकि मित्रों द्वारा बड़े सुभीते से यह काम लिया जा सकता था। आगामी दृश्य के लिए यह परस्पर अज्ञान चाहे आवश्यक है परन्तु है कितना अस्वाभाविक ?

३. चतुर्थ अंक में शङ्खचूड़ तथा उस की माता का मन्दिर में चले जाना भी स्वाभाविक नही लगता। इस से शङ्खचूड़ के चरित्र में न्यूनता आ गई है। वह नायक को अपनी जगह प्राण देने की अनुमति नही देता। परन्तु गरुड़ के आने के समय उस के चले जाने से तो ऐसा लगता है कि ऊपर से वह चाहे जो कहे परन्तु भीतर से मानो वह अपने प्राण बचाना ही चाहता है।

और फिर, यदि मरने से पहिले मन्दिर पूजा आवश्यक थी तो नाटककार को नायक के लिए इस का विचार क्यों नहीं आया ?

४. नायक की आपत्ति में मलयवती के घर वालों की उदासीनता भी अखरती है। वे ही द्वारपाल को यह जानने के लिए भेजते हैं कि दामाद समुद्र तट से लौटा है कि नहीं। द्वारपाल से उन्हें सूचना मिल जाती है कि नायक कहीं नहीं मिला। फिर वे क्यों मौन बैठे रहते हैं ? वध्य भूमि पर उन को क्यों नहीं ला दिखाया गया ?

परन्तु इन गौण दोषों के कारण हम नाटक के वास्तविक गुणों को भूल नहीं सकते। जीमूतवाहन में आत्मत्याग तथा दक्षिणता के उच्च तथा कठिन आदर्श का समावेश सर्वथा सफल है। शृङ्गार तथा करुणा के वातावरण गढ़ने मे और कविता लिखने में श्री हर्ष सिद्ध-हस्त हैं।

प्रार्थना करता है कि उसे (नायक को) छोड़ दो और मुझे खाओ। क्योंकि उसे यह बात बहुत खटकती है कि उस की जान किसी दूसरे के जीवन से बचाई जा रही है। यह उस के लिए असह्य है, अपमान जनक है। नायक के लिए उसके मन में इतनी श्रद्धा है कि वह कहता है कि यदि यह जीवित न रहे तो मैं भी घर लौट कर नहीं जाऊँगा।

३. गरुड़—नाटककार ने गरुड को अति शक्तिशाली तथा निर्दय दर्शाया है। इसी कारण देवता लोग भी उस से डरते हैं और उस के आगे झुकते हैं। उसे स्वयं भी इस बात का सगर्व मान है। यहां तक कि जब नायक के आत्मत्याग पर देवता लोग फूल बरसाते हैं और दुन्दुभियां बजाते हैं तो गरुड़ समझता है कि यह मेरी ही शक्ति तथा वेग के कारण है। परन्तु इतना भयानक तथा वन्य जन्तु भी नायक की वीरता, धीरता और साहस को देख विस्मित रह जाता है और यह स्वीकार करता है कि 'यह कहीं मुझ से अधिक वीर है'। और जब उसे अपनी ग़लती का ज्ञान होता है तो वह बहुत पश्चाताप करता है। और समझता है कि इस पाप का कोई प्रतिकार नहीं। प्रायश्चित के लिए अपना जीवन त्यागना चाहता है, परन्तु स्वयं नायक उसे इस दुःसाहस से रोक लेता है। उसे अपने काम पर इतनी लज्जा होती है कि वह नायक के माता पिता को मुंह तक नहीं दिखाना चाहता। नायक के सन्मुख घुटने टेक देता है। उस से उपदेश की प्रार्थना करता है और उस पर चलने का प्रण करता है। नायक के कहने पर वह प्रतिज्ञा करता है कि "अब मैं सांपों को नहीं खाऊँगा और पुराने पापों के लिए प्रायश्चित करूँगा"। अमृत वर्षा करके पहिले मारे हुए सब सांपों को पुनर्जीवित भी कर देता है।

४. मलयवती—यह नाटक की नायिका है। यह सुन्दर सिद्ध कन्या है जो गौरी का वरदान प्राप्त करने के लिए तपस्या करती है। नायक के लिए तो वह स्वर्ग की अप्सरा से भी अधिक रूपवती है। नाटक के शेष पात्र भी उस की सुन्दरता का राग अलापते हैं। उसे आभूषणों की कोई आवश्यकता नहीं, वे तो केवल भार ही हैं। सुन्दर होने के साथ वह विनीत तथा लज्जाशील भी है। इतनी कि जीमूतवाहन से प्रेम करती हुई भी उस के सन्मुख ठहर नहीं सकती; चाहे बाद में वह पछताती है कि उस का जी भरा नहीं। उस के सामने उसे यह भी डर है कि कहीं कोई तपस्वी देख न ले और उसे अविनीत समझे। प्रेमिका के रूप में किसी के सामने होते भी उसे लज्जा होती है। परन्तु उस में स्त्री-सुलभ ईर्ष्या अवश्य है। जब उसे पता लगता है कि जीमूतवाहन का मन किसी और पर आसक्त है तो वह आत्महत्या तक करने पर उतर आती है। परन्तु अन्तिम दुःखान्त दृश्य में उस का चरित्र कोई अच्छा नहीं बन पड़ा। मानों उस में जान ही नहीं, अथवा अपने आप को भूल बैठी हो। वह यह भी नहीं जानती कि अब क्या कहूँ। जो नायक के माता पिता कहते हैं वैसा ही वह कहती है। जैसा वे करते हैं वैसा वह भी करती है। वे अचेत होते हैं तो वह भी अचेत हो जाती है और उन के होश में आने के पश्चात् होश में आती है। शायद माननीय गुरुजनों के आगे वह अपने सच्चे प्रेम भावों तथा करुणात्मक उद्गारों को लज्जावश प्रकट नहीं होने देती। परन्तु हम अपनी नायिका का चरित्र ऐसा नहीं चाहते थे। वह वीर पति की वीर पत्नी नहीं दिखाई देती। हम उस से अधिक आशा रखते

थे ! इस की अपेक्षा नायक की वृद्धा माता में अधिक स्वाभाविकता है ।

५. मित्रावसु — यह नायिका का भाई है। इसे अपनी मान प्रतिष्ठा का बहुत ध्यान है। नायक के साथ पहिली बार मिलने पर ही यह अचानक ही बात चीत आरम्भ करते हुए किसी भूमिका के बिना ही अपनी बहिन के साथ विवाह करने को कहता है। नायक को पता नहीं कि उसी की बहिन उस की प्रिया है। वह अस्वीकार कर देता है तो मित्रावसु के मान को ठेस पहुँचती है। एक बार फिर, जब नायक को यह समाचार देने लगता है कि मतङ्ग ने आप का राज्य हड़प लिया है, तो उसे अपने आप पर ग्लानि होती है कि बताने से पहिले मैं ने शत्रु को मार क्यों नहीं भगाया। वह बदला लेना चाहता है परन्तु नायक की आज्ञा के बिना कैसे ? वह बड़ा योधा है और समझता है कि मैं मतङ्ग को अकेला ही बिना किसी बड़ी सेना के मार सकता हूँ।

श्री हर्ष के समय का भारतीय समाज

नागानन्द में हर्ष के समय में बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दोनों धर्मों के सिद्धान्तों को कथावस्तु में एक साथ गूंथने से साफ पता लगता है कि उस समय का भारतीय समाज ऐसी अवस्था से गुज़र रहा था जिसमें धार्मिक सहिष्णुता स्वाभाविक सी थी। भारत में बौद्धमत को तीसरी शताब्दी पूर्वेसा में प्रधानता प्राप्त हुई जो कई शताब्दियों तक बनी रही। ईसा की चौथी शताब्दी में गुप्तों के राज्य काल में ब्राह्मण धर्म का प्रचार अपेक्षा-कृत अधिक हो गया था। तत्पश्चात् कई शताब्दियों तक दोनों धर्मों की शक्ति समान सी रही। राजा लोग धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार करते थे। ब्राह्मण लोग बौद्धों का मान करते थे। बौद्ध लोग भी आदि संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे और संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखा और अनुवाद किया करते थे। कहीं आठवीं शताब्दी में जाकर परस्पर वैमनस्य बढ़ा। अतएव नागानन्द में चाहे कहीं कहीं बौद्ध रंग है फिर भी सब श्रेणी के पाठकों ने एक समान इसका स्वागत किया।

उस समय लोगों का अलौकिक में विश्वास था— विद्यधरों तथा सिद्धों का उल्लेख, नागों तथा गरुड़ का समावेश; गौरी का नायक को पुनर्जीवित करना और स्वेच्छा-प्राप्त जल से उस का अभिषेक करना, इस से पहिले स्वप्न में आकर नायिका को वरदान इत्यादि दृश्य इस बात की प्रौढ़ता करते हैं।

उस समय धर्म तथा सत्कार्यों का बड़ा महत्त्व था। वृद्धावस्था में राज्य छोड़ वनों में जा कर तपस्या करना दूसरों की रक्षा के लिए आत्मत्याग तथा तप की शक्ति इसी की पुष्टि करते हैं।

उस समय भी लोगों के ऐसे ही विश्वास थे जैसे कि अब हैं। उन के विचार में भी नागों की दुनिया समुद्र के नीचे थी, देवताओं का स्वर्ग ऊपर और उन का राजा इन्द्र। तब भी माना जाता था कि अमृत देवताओं के पास है और वह मुर्दों को भी जिला देता है। परन्तु उनके नाग चलते थे और मनुष्यों की भान्ति बोलते थे। उस समय गरुड़ भी घुटनों के बल बैठ कर मनुष्य वाणि बोल सकता था।

पात्र-परिचय

१. जीमूतवाहन = नायक — विद्याधर राजकुमार।
२. विदूषक = आत्रेय नामक, नायक का मित्र।
३. जीमूतकेतु = नायक के पिता, विद्याधरराज।
४. वृद्धा = नायक की माता।
५. मलयवती = नायिका—सिद्धराज विश्वावसु की कन्या।
६. चतुरिका } = चेटियां।
७. मनोहरिका }
८. शेखरक = शराबी विट।
९. नवमालिका = नौकरानी; विट की प्रेयसी।
१०. चेट = विट का नौकर।
११. पल्लविका = उद्यान पालिका।
१२. सुनन्द = प्रतिहार, विश्वावसु के घर का नौकर।
१३. कञ्चुकी = वसुभद्र नामी, अन्तः पुर का वृद्ध अधिकारी।
१४. शङ्खचूड = एक नाग।
१५. वृद्धा = शङ्खचूड़ की माता।
१६. मित्रावसु = मलयवती का भाई।
१७. गौरी = पार्वती जी।
१८. किङ्कर = नागराज वासुकि का नौकर।
१९. गरुड = पक्षिराज, सांपों का शत्रु।
२०. तापस = शाण्डिल्य नामक मुनि।

॥ नागानन्दम् ॥

प्रथमोऽङ्कः

नान्दी:—

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यान[1]ङ्गशरातुरं जनमिमं त्राताऽपि नो[2] रक्षसि ।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निघृ[3]णतरस्त्वत्तः कुतोऽन्य पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बुद्धो जिनः[4] पातु वः ॥१॥

अपि च--

कामेनाकृष्य चापं हतपटुपटहावल्गिभिर्मारवीरै—[5]
र्भ्रूभङ्गोत्कम्पजृम्भास्मितचलितदृशा दिव्यनारीजनेन ।
सिद्धैः [6]प्रह्वोत्तमाङ्गैः पुलकितवपुषा विस्मयाद्वासवेन,[7]
'ध्यायन् बोधेरवाप्तावचलित' इति वः पातु दृष्टो मुनीन्द्रः ॥२॥

श्लोक नं० १, अन्वयः—

''ध्यानव्याजमुपेत्य कां चिन्तयसि ? क्षणं चक्षु उन्मील्य अनंगशरातुरमिमं जनं पश्य । त्राताऽपि नो रक्षसि ? मिथ्याकारुणिकोऽसि । त्वत्तः निघृणतरः अन्यः पुमान् कुतः ?'' इति मारवधूभिः सेर्ष्यम् अभिहितः बुद्धो जिनः वः पातु ।

श्लोक नं० २, अन्वयः—

(यः) कामेन चापमाकृष्य (दृष्टः), मारवीरैः हटपटुपटहावल्गिभिः (दृष्टः), दिव्यनारीजनेन भ्रू भंगोत्कम्पजृम्भास्मितचलित-दृशा (दृष्टः) सिद्धैः प्रह्वोत्तमाङ्गैः (दृष्टः), वासवेन विस्मयाद् पुलकितवपुषा दृष्टः, बोधेरवाप्तौ अचलितः ध्यायन् इति (सः) मुनीन्द्रः वः पातु ।

पहिला अंक

मङ्गलाचरण—

"ध्यान के बहाने किस (सुन्दरी) का चिन्तन कर रहे हो? क्षण भर आंख खोल कर कामदेव के बाणों से पीड़ित हमें देखो। रक्षक होने पर भी (हमारी) रक्षा नहीं करते? (तो) झूठे ही दयालु (कहलाते) हो। तुम से अधिक निर्दय दूसरा मनुष्य कहां (मिलेगा)?" इस प्रकार कामदेव की अप्सराओं द्वारा ईर्ष्या के साथ कहे गए विजयी भगवान् बुद्ध आपकी रक्षा करें ॥१॥

और भी—

(जो) धनुष बाण का सन्धान करते हुए कामदेव के द्वारा, जोर से बाजे बजाकर नाचते हुए कामदेव के वीर सैनिकों के द्वारा, भ्रूविक्षेप, उत्कम्प जम्हाई, मुस्कान तथा चञ्चल नेत्रों से दिव्य अप्सराओं के द्वारा सिर झुकाते हुए सिद्धों के द्वारा, और विस्मय के कारण पुलकित शरीर वाले इन्द्र के द्वारा—ज्ञान की प्राप्ति में दत्तचित्त हो ध्यान में लगे हुए — देखे गए (वह) श्रेष्ठ मुनि, भगवान् बुद्ध, आप की रक्षा करें ॥२॥

---

1. कामदेव।
2. न, नहीं।
3. निर्घृण = दया हीन।
4. विजयी (क्योंकि उन्हों ने सांसारिक बन्धनों पर विजय प्राप्त कर ली थी।)
5. नाचते हुए।
6. झुके हुए।
7. वासव = इन्द्र।

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । अद्याहमिन्द्रोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तः—'यत्तदस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्व[1]वस्तुरचनाऽलंकृतं विद्याधरजातकप्रतिबद्धं 'नागानन्दं" नाम नाटकं कृतमित्यस्माभिः श्रोत्रपरम्परया श्रुतं, न च प्रयोगतो दृष्टम् । तत्तस्यैव राज्ञः सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानादस्मासु चानुग्रहबुद्धया यथावत्प्रयोगेणाद्य त्वया नाटयितव्यमिति । तद्यावदिदानीं नेपथ्यरचनां[2] कृत्वा यथाऽभिलषितं सम्पादयामि ।

(परिक्रम्यावलोक्य च)

आवर्जितानि[3] च सकलसामाजिकमनांसीति मे निश्चयः ।
यतः—

श्री हर्षो निपुणः कविः, परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,[4]
लोके हारि च बोधिसत्त्व[5]चरितं, नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं,[6] किं पुन-
र्मद्भाग्योपच[7]यादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥ ३ ॥

श्लोक नं० ३, अन्वय :—

श्री हर्षो निपुणः कविः । एषा परिषदपि गुणग्राहिणी ।
बोधिसत्त्वचरितं च लोके हारि । वयं च नाट्ये दक्षाः ।
इह तु एकैकमपि वस्तु वाञ्छितफलप्राप्तेः पदम् ।
किं पुनः मद्भाग्योपचयाद् गुणानां सर्वो गणः अयं समुदितः ॥

(मंगलाचरण के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार —बस, बस, अधिक विस्तार को रहने दो। आज इन्द्रध्वज के महोत्सव के अवसर पर देश देशान्तरों से आए हुए, महाराज श्री हर्ष देव के चरण कमलों की सेवा करने वाले, राजाओं ने मुझे बड़े आदर से बुला कर कहा हैं कि 'हमारे स्वामी श्री हर्ष देव ने कथावस्तु की अपूर्व रचना से अलंकृत विद्याधर जातक से सम्बन्धित 'नागानन्द' नामक नाटक रचा है। ऐसा हम ने कानों कान सुना है, परन्तु उसका अभिनय होते नहीं देखा। इस लिए सब लोगों के मनों को प्रसन्न करने वाले उन्हीं महाराज के प्रति बड़े आदर से और हमारे ऊपर कृपा बुद्धि से हमें उसका ठीक ठीक अभिनय दिखाओ।' अत: इस समय वेशभूषा सजा कर जैसी (इनकी) अभिलाषा है करता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह मेरा निश्चय है कि सभी दर्शकों के मन इधर झुके हुए हैं। क्योंकि :—

महाराज श्री हर्ष एक निपुण कवि हैं। दर्शकों की यह सभा भी गुणग्राही है। बोधिसत्त्व (सिद्धराज जीमूतवाहन) का चरित्र संसार (भर) में मनोहर है। और हम भी अभिनय करने में प्रवीण हैं। इन में से एक एक चीज़ भी अभीष्ट फल की प्राप्ति कराने वाली है। फिर मेरे सौभाग्य से उपस्थित हुए (इन) सभी गुणों के इस समूह का तो कहना ही क्या? ॥

---

1. 'अपूर्व' शब्द 'रचना' के साथ लेना चाहिए, 'वस्तु' के साथ नहीं क्योंकि नाटक की कथावस्तु तो सुविख्यात हुआ करती है।
2. पर्दे के पीछे पात्रों की यथोचित वेशभूषा आदि का युक्त प्रबन्ध।
3. आ+वृज्+क्त+नपुं० प्रथमा बहुवचन=झुके हुए: आकृष्ट।
4. गुणों की कदर करने वाली।
5. बोधिसत्त्व उस महापुरुष को कहते हैं जो पूर्ण ज्ञान तथा निर्वाण प्राप्त करके बुद्ध होने वाला है। 6. कारण। 7. सञ्चय।

तद्यावदहं गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि।
(परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) इदमस्मद्गृहं।
यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य) आर्ये, इतस्तावत्।

द्विजपरिजनबन्धुहिते! मद्भवनतटाकहंसि! मृदुशीले!
परपुरुषचन्द्रकमलिन्यार्ये! कार्यादितस्तावत् ॥४॥

नटी–(प्रवश्य सास्रम्) अज्ज! इअम्हि मन्दभग्गा। आणवेदु
आर्य! इयमस्मि मन्दभाग्या। आज्ञापयतु
अज्जउत्तो को णिओओ अणुचिट्ठीअदु त्ति।
आर्यपुत्रः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति।

सूत्रधारः— (नटीमवलोक्य) आर्ये! नागानन्दे नाट-
यितव्ये किमिदमकारणमेव रुद्यते?

नटी–अज्ज! कधं ण रोइस्सं? यदो दाव तादो
आर्य! कथं न रोदिष्यामि, यतस्तावत् तातः
अज्जाए सह थविरभावं[1] जाणिअ अदूरजादणिव्वेदो[2]
आर्यया सह स्थविरभावं ज्ञात्वा अदूरजातनिर्वेदः
'कुडुम्बभारुव्वहणजोग्गो दाणीं तुमं' त्ति हिअए
कुटुम्बभारोद्वहनयोग्य इदानीं त्वमिति हृदये

श्लोक नं० ४, अन्वय :—

द्विजपरिजनबन्धु हिते, मद्भवनतटाकहंसि, मृदुशीले,
परपुरुषचन्द्रकमलिनि, आर्ये, कार्याद् इतस्तावत्।

तो मैं घर जा कर अपनी पत्नी को बुला कर सङ्गीत शुरु करता हूं। (घूमकर और पर्दे की ओर देखकर) यह हमारा घर है। तो मैं अन्दर जाता हूँ। (प्रवेश करके) श्रीमती जी, ज़रा इधर तो आइए।

ब्राह्मण, नौकर चाकर और सम्बन्धियों से हित करने वाली, मेरे गृह रूपी तालाब में हंसिनी के समान (क्रीड़ा करने वाली) कोमल स्वभाव वाली, परपुरुष रूपी चन्द्रमा (को देख कर) कमलिनी के समान (मुरझाने वाली), हे प्रिये, एक ज़रूरी काम हैं, इधर तो आओ॥

नटी— (प्रवेश करके, आसुओं के साथ) आर्य, यह हूं मैं मन्दभागिनी। आप आज्ञा दें, मैं किस आदेश का पालन करूं।

सूत्रधार— (नटी को देखकर) प्रिये, नागानन्द का अभिनय करने के समय तुम अकारण ही रो क्यो रही हो ?

नटी -- आर्य ! कैसे न रोऊं ? क्योंकि (आप के) पिता अपनी बूढ़ी अवस्था जान, विरक्त होकर (और) मन में यह सोचकर कि आप अब कुटुम्ब के भार को उठाने के योग्य हैं, माता जी के साथ

---

1. बुढापा; बूढी अवस्था। 2. निराशा; उदासीनता; विरक्ति।

वितक्कित्र तवोवणं गदो ।

वितर्क्य तपोवनं गतः

सूत्रधार :— (सनिर्वेदम्) अये ! कथं मां परित्यज्य तपोवनं प्रयातौ पितरौ तत्किमिदानीं युज्यते ? (विचिन्त्य) अथवा कथमहं गुरुचरण परिचर्य्या-सुखं परित्यज्य गृहे तिष्ठामि ? कुतः—

'पित्रोर्विधातुं शुश्रुषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष, यथा जीमूतवाहनः ॥ ५ ॥

(इति निष्क्रान्तौ) [आमुखम्]

[ततः प्रविशति नायको विदूषकश्च]

नायक :— (सनिर्वेदं) वयस्य आत्रेय,

रागस्यास्पदमित्यवैमि, न हि मे ध्वंसीति[1] न प्रत्ययः
कृत्याकृत्यविचारणासु विमुखं को वा न वेत्ति क्षितौ ।
एवं निन्द्यमपीदमिन्द्रियवशं प्रीत्यै भवेद्यौवनं,
भक्त्या याति यदीत्थमेव पितरौ शुश्रूषमाणस्य मे ॥६॥

नं० ५, अन्वय :—
क्रमागतम् ऐश्वर्यं त्यक्त्वा पित्रोः शुश्रूषां विधातुम्
अहमपि वनं यामि यथा एष जीमूतवाहनः ॥

श्लोक नं०६, अवन्य :— (यौवनं) रागस्य आस्पदम् इति अवैमि।
नहि ध्वंसि इति न मे प्रत्ययः । (एतत्) कृत्यअकृत्यविचारणासु
विमुखं (इति) क्षितौ को वा न वेत्ति ।
एवम् इन्द्रियवशं निन्द्यमपि इदं यौवनं मे प्रीत्यै भवेत्
यदि इत्थमेव भक्त्या पितरौ शुश्रूषमाणस्य याति ॥

तपोवन को चले गए हैं।

सूत्रधार— (दुःख के साथ) हैं! क्या माता पिता मुझे छोड़ कर तपोवन चले गए? तो (मेरे लिए) अब क्या करना ठीक है? (सोचकर) अथवा, गुरुजनों के चरणों की सेवा के सुख को छोड़ कर मैं घर में कैसे ठहर सकता हूं? क्योंकि—

कुलपरम्परा से प्राप्त हुए ऐश्वर्य को छोड़ कर माता-पिता की सेवा करने के लिए मैं भी (वैसे ही) वन को जा रहा हूं जैसे यह जीमूतवाहन राजसुख को छोड़, माता-पिता की सेवा के लिए वन चला गया है)

(दोनों चले जाते हैं)

[नाटक की प्रस्तावना समाप्त]

[नायक और विदूषक का प्रवेश]

नायक— (खेद के साथ) मित्र आत्रेय,

मैं जवानी को विषयवासना का घर समझता हूं। मेरा विश्वास है कि यह क्षणभंगुर है। (इस) पृथ्वी पर कौन है जो यह यह नहीं जानता कि यह (जवानी) कर्तव्य और अकर्तव्य के विचार करने के विरुद्ध है। इस प्रकार इन्द्रियों के अधीन और निन्दनीय होने पर भी यह जवानी भी मुझे प्रसन्नता दे सकती है यदि (यह) इसी प्रकार भक्तिपूर्वक माता पिता की सेवा करने में ही व्यतीत हो।

---

1. नाशवान्; क्षणभंगुर।

विदूषकः—(सरोषं) भो वअस्स! ण णिव्विण्णो[1] एव तुमं एत्तिअं
भो वयस्य, न निर्विण्ण एव त्वमेतावन्तं

कालं एदाणं जीवन्तमुआणं[2] वुड्ढाणं किदे[3] इमं ईदिसं
कालमेतयोर्जीवन्मृतयो वृद्धयोः कृते इदमीदृशं

वणवासदुक्खं अणुहवन्तो। ता पसीद। दाणिं पि
वनवासदुःखमनुभवन्। तत् प्रसीद। इदानीमपि

दाव गुरुचरणसुस्सूसाणिब्बंधादो[4] णिअत्तिअ
तावद्गुरुचरणशुश्रूषानिर्बन्धान्निवृत्य

इच्छापरिभोगरमणिज्जं रज्जसोक्खं अणुहवीअदु।
इच्छापरिभोगरमणीयं राज्यसौख्यमनुभूयताम्।

नायकः—वयस्य, न सम्यगभिहितं त्वया। कुतः?
तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा, सिंहासने किं तथा?
यत्संवाहयतः[5] सुखं तु चरणौ तातस्य,—किं राजके[6]?
किं भुक्ते भुवनत्रये[7] धृतिरसौ, भुक्तोज्झिते[8] या गुरो-
रायासः[9] खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः?॥७

श्लोक नं० ७, अन्वयः— पितुःपुरा भुवि तिष्ठन् यथा भाति, तथा किं सिंहासने (तिष्ठन् भाति)? तातस्य चरणौ संवाहयतः यत् सुखं किं (तत्) राजके (अस्ति)? गुरोः भुक्तोज्झिते भुक्ते या धृतिः, किम् असौ भुवनत्रये (भुक्ते अस्ति)? उज्झितगुरोः राज्यं खलु आयासः। (किं) तत्र कश्चिद् गुणः अस्ति?॥

विदूषक — (क्रोध सहित) अरे मित्र ! जीते हुए भी जो मृतप्राय हैं ऐसे बूढ़ों के लिए इतना समय वनवास का दुःख अनुभव करते हुए क्या आप ऊब नहीं गए ? अच्छा (अब) दया करो। अब भी माता पिता के चरणों की सेवा करने का हठ छोड़कर यथेष्ट विषय उपभोगों से रमणीय राज्य के सुख का अनुभव करो।

नायक — मित्र, तुम ने (यह) ठीक नहीं कहा। क्योंकि पिता के सन्मुख भूमि पर बैठा हुआ (पुत्र) जैसे अच्छा लगता है क्या राजसिंहासन पर (बैठा हुआ) वैसा (लग सकता है) ? पिता के पैर दबाने में जो सुख है, क्या वह राजाओं के इकट्ठ में है ? पिता की जूठन खाने में जो तृप्ति है, क्या वह त्रिलोकि के उपभोग में (प्राप्त हो सकती) है ? निश्चय ही पिता को छोड़ने वाले के लिए राज करना केवल क्लेश मात्र ही है। क्या इस में कोई भी गुण है ?

---

1. निराश होना; तंग आ जाना।
2. जो जीते हुए भी मरे हुए के समान है।
3. कुते के साथ षष्ठी आती है।
4. हठ, ज़िद्। 5. सम् + वह् + णिच् + शतृ + ६ष्ठी; दबाते हुए।
6. राजाओं का इकट्ठ। 7. तृप्ति, आनन्द।
8. आदौ भुक्तं पश्चात् उज्झितं, तस्मिन्।
9. दुःख, क्लेश, कष्ट।

विदूषक :—(आत्मगतम्) अहो से गुरुअणसुस्सूसाणुराओ !
(विचिन्त्य)

अहो, अस्य गुरुजनशुश्रूषाऽनुरागः !

भोदु ता एदं पि दाव, अण्णं विअ भणिस्सं। (प्रकाशं)

भवतु, तदेतदपि तावत्, अन्यदिव भणिष्यामि।

भो वअस्य ! ण क्खु अहं रज्जसोक्खं ज्जेव केवलं

भो वयस्य ! न खल्वहं राज्यसुखमेव केवलम्—

उद्दिसिअ एव्वं भणामि, अण्णं पि दे करणीज्जं अत्थि ज्जेव।

उद्दिश्य एवं भणामि, अन्यदपि ते करणीयमस्त्येव।

नायकः-(सस्मितं) वयस्य! ननु कृतमेव यत्करणीयम्। पश्य-

न्याय्ये वर्त्मनि योजिताः प्रकृतयः[1], सन्तः सुखस्थापिताः
नीतो बन्धुजनस्तथात्मसमतां, राज्ये च रक्षा कृता।
दत्तो दत्तमनोरथाधिकफलः कल्पद्रुमोऽप्यर्थिने,
किं कर्तव्यमतःपरं, कथय वा यत्ते स्थितं चेतसि ॥८॥

विदूषक—भो वअस्स ! अच्चन्तसाहसिओ मदङ्गदेवहदओ दे

भो वयस्य, अत्यन्तसाहसिको मतङ्गदेवहतकस्ते[2]

श्लोक नं० ८, अन्वयः—(मया) प्रकृतयः न्याय्ये वर्त्मनि योजिताः; सन्तः सुखं स्थापिताः; तथा बन्धुजनः आत्मसमतां नीतः; राज्ये च रक्षा कृता; दत्तमनोरथाधिकफलः कल्पद्रुमोऽपि अर्थिने दत्तः। कथय वा अतः परं (मया) किं कर्तव्यं यत् ते चेतसि स्थितम् (अस्ति)

विदूषक— (मन में) वाह बजुर्गों की सेवा में इसका लगाव ! (सोच: कर) अच्छा, तो ऐसा हो सही, इसे दूसरी तरह से कहूंगा। (प्रकट) मित्र, मैं केवल राज्य-सुख के लिए ही ऐसा नहीं कह रहा, बल्कि इसलिए भी कि आपको और भी तो (कुछ) करना है।

नायक—(मुस्कराते हुए) जो मेरे करने योग्य था वह सब निश्चय ही मैं कर चुका हूं। देखो—

प्रजाजनों को न्याय के मार्ग में लगा दिया है। सज्जनों को सुखपूर्वक बसाया है। अपने सम्बन्धियों को अपने ही समान बना दिया है। राज्य में रक्षा स्थापित कर दी है। मनोरथ से भी अधिक फल देने वाला कल्पवृक्ष भी याचकों को दे दिया है। बताओ, इस से अधिक और कौनसा कर्तव्य (शेष) है जिसके बारे में तुम सोच रहे हो?

विदूषक—मित्र, तुम्हारा शत्रु नीच मतङ्गदेव बड़ा साहसी है।

---

1. प्रजाजन।

2. नीच, दुष्ट। 'हतक' शब्द समास के अन्त में ही आता है।

पडिवक्खो, तस्सिं अ समासण्णट्ठिदे पहाणामच्च-
प्रतिपक्षः[1] ; तस्मिश्चं समासन्नस्थिते प्रधानामात्य -
समधिट्ठिदं पि ण तुए विणा रज्जं सुत्थिरं त्ति पडिभादि ।
समधिष्ठितमपि न त्वया विना राज्यं सुस्थिरमिति प्रतिभाति ।

नायक.— धिङ् मूर्ख ! मतङ्गो राज्यं हरिष्यतीति शङ्कसे ?

विदूषकः— अध इं ।
अथ किम् ।

नायकः—यद्येवं ततः किम् ? ननु स्वशरीरात्प्रभृति[2] सर्वं पराथमेव मया परिपाल्यते । यत्तु स्वयं न दीयते तत्तातानुरोधात् । तत् किमनेनावस्तुनाचिन्तनेन ? वरं ताताज्ञैवानुष्ठिता । आज्ञापितश्चास्मि तातेन यथा 'वत्स जीमूतवाहन ! बहुदिवसपरिभोगेण[3] दूरीकृतकुशकुसुमम् उपभुक्तमूलफलकन्दनीवार-प्रायमिदं[4] स्थानं वर्तते । तदितो मलयपर्वतं गत्वा किञ्चित्तस्मिन्निवासयोग्यमाश्रमपदं निरूपय' इति । तदेहि मलयपर्वतमेव गच्छावः ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि एदु भवं ।
यद्भवानाज्ञापयति । एतु भवान् ।

(इत्युभौ परिक्रामतः)

उसके समीप ही रहने पर तुम्हारा राज्य, प्रधान मन्त्री द्वारा शासित होने पर भी, तुम्हारे बिना सुस्थिर नहीं है, ऐसा मुझे लगता है।

नायक—धिक् मूर्ख, क्या तुम्हारा विचार है कि मतङ्ग मेरा राज्य हर लेगा ?

विदूषक—तो और क्या ?

नायक—यदि ऐसा ही है तो फिर क्या (हुआ) ? निश्चय ही मैं अपने शरीर से लेकर सब कुछ परोपकार के लिए ही रखता हूं। मैं स्वयं इसे (दूसरों को) नहीं दे रहा यह केवल पिता जी के अनुरोध के ही कारण है। अतः इस तुच्छ वस्तु के (विषय में) सोचने से (भी) क्या लाभ ? पिता जी की आज्ञा का पालन करना ही अच्छा है। पिता जी ने आदेश दिया है कि "वत्स जीमूतवाहन ! बहुत दिनों से उपभोग करने से इस स्थान में कुश तथा फूलों का अभाव हो गया है और कन्द, मूल, फल, नीवार (जंगली चावल) भी उपभोग से समाप्तप्राय हो गए हैं। अतः यहां से मलयपर्वत पर जाकर वहां पर रहने योग्य आश्रम के लिए कोई स्थान देखो।" इसलिए आओ मलय पर्वत को ही चलें।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा। आइए। (दोनों चल पड़ते हैं)

---

1. शत्रु।

2. प्रभृति के साथ पञ्चमी ही आती है। 3. उपभोग, प्रयोग।

4. समास के अन्त में 'प्राय' का अर्थ है 'लगभग'।

विदूषकः—(अग्रतोऽवलोक्य)

भो वअस्स ! पेक्ख पेक्ख, एसो क्खु

भो वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व; एष खलु

सरसघणसिणिद्धचंदणवणुच्छङ्गपरिमिलणलग्गबहलपरिमलो

सरसघनस्निग्धचन्दनवनोत्सङ्गपरिमिलनलग्नबहल परिमलो[1]

विषमतडणिवडणजज्जरिज्जंत णिज्झरुच्छलित

[2]विषमतटनिपतनजर्जरायमाण निर्झरोच्छलित

सिसिरसीअरासारवाहो

शिशिरसीकरासारवाही[3]

पढमसङ्गमुक्कण्ठिअपिआकण्ठग्गहो विअ

प्रथमसंगमोत्कण्ठितप्रियाकण्ठग्रह इव

मग्गपरिस्समं अवणअन्तो

मार्गपरिश्रममपनयन्

रोमञ्चेदि पिअवअस्सं मलअमारुदो ।

रोमाञ्चयति प्रियवयस्यं मलयमारुतः ।

नायकः—(निरूप्य सविस्मयम्)

अये प्राप्ता एव वयं मलयपर्वतम् ।

(समन्तादवलोक्य) अहो रमणीयकमस्य मलयाचलस्य !

तथा हि-

विदूषक—(आगे देखकर) अहो मित्र, देखो, देखो। रसीले घने तथा चिकने चन्दन वन के साथ लगने से अधिक सुगन्धि से युक्त और विषम (ऊबड़ खाबड़) तटों पर गिरने से जर्जरित होने वाले झरनों के उछलते हुए ठण्डे जलकणों के समूह को धारण करने वाली मलय पर्वत की हवा मार्ग की थकावट को दूर करती हुई आपको ऐसे ही रोमाञ्चित कर रही है जैसे प्रथम समागम के लिए उत्कण्ठित प्रियतमा का आलिंगन।

नायक—(देख कर, आश्चर्य के साथ) अरे हम तो मलय पर्वत पर पहुंच ही गये। (सब तरफ देखकर) अहा, इस मलय पर्वत की क्या ही रमणीयता है! क्योंकि—

---

1. स्पर्श, मिलना, साथ लगाना।
2. जो सम नहीं, ऊबड़खाबड़।
3. वर्षा, बोछाड़।

[1]माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिक[2]षणैर्भग्नस्रवच्चन्दनः।
क्रन्दत्कन्दरगह्वरो जलनिधेरास्फालितो[3] वीचिभिः।
पादालक्तकरक्तमौक्तिकशिलः सिद्धाङ्गनानां गतैः,
दृष्टोऽयं मलयाचलः किमपि[4] मे चेतः करोत्युत्सुकम् ॥९॥
तदेहि, अत्रारुह्य वासयोग्यं किञ्चिदाश्रमपदं निरूपयावः।

विदूषकः— एव्वं करेम्ह। (अग्रतः स्थित्वा) एदु भवं।
एवं कुर्वः। एतु भवान्।

[आरोहणं नाटयतः]

नायकः— (दक्षिणाक्षिस्पन्दनं सूचयन्) अये!—
दक्षिणं स्पन्दते चक्षुः फलाकाङ्क्षा न मे क्वचित्।
न च मिथ्या मुनिवचः कथयिष्यति किं न्विदम्? ॥१०॥

विदूषकः—भो वअस्स! अवस्समासण्णं दे पिअं णिवेदेदि
भो वयस्य! अवश्यमासन्नं[5] ते प्रियं निवेदयति।

नायकः— एवं नाम[6] यथाह भवान्।

श्लोक नं०: ९, अन्वयः—माद्यत् दिग्गजगण्डभित्तिकषणैः चन्दनः भग्नस्रवत्,
जलनिधेः वीचिभिः आस्फालितः कन्दरगह्वरः क्रन्दत्;
सिद्धांगनानां गतैः पादालक्तमौक्तिकशिलः (मलयाचलः),
अयं मलयाचलः दृष्टः (एव) चेतः मे किमपि उत्सुकं करोति

श्लोक नं० १०, अन्वयः—
दक्षिणं चक्षुः स्पन्दते, क्वचित् मे फलाकाङ्क्षा न;
मुनिवचः च न मिथ्या, किं नु इदं कथयिष्यति॥

मदमस्त दिग्गजों के गण्डस्थलो के घर्षण से टूटे हुए चन्दन के वृक्षों से रस चू रहा है; समुद्र को लहरों के टकराने से गुफ़ाएँ गूँज रही हैं ; सिद्धों की स्त्रियों के चलने फिरने से उन के पैरों की महावर (मेंहदी) से (यहां की) मणि शिलाएँ लाल हो गई हैं। यह मलय पर्वत देखने मात्र से (ही) मेरे मन में कुछ (विचित्र) उत्सुकता उत्पन्न कर रहा है।

अतः आओ, इस पर चढ कर रहने योग्य आश्रय के लिए कोई स्थान देखें।

वेदूपक— अच्छा, ऐसा ही करते हैं। (आगे हो कर) आइए (दोनों पर्वत पर चढ़ने का अभिनय करते हैं)

ायक— (दाहिनी आंख के फड़कने की सूचना देते हुए) अरे !— (मेरी) दाहिनी आंख फड़क रही है, (परन्तु) मुझे तो किसी फल की इच्छा नहीं। पर मुनियों के वचन झूठे नहीं (हो सकते), फिर यह क्या फल दिखाएगी ?

वेदूपक— मित्र, अवश्य ही यह समीप ही होने वाली किसी प्रिय बात की सूचना दे रही है।

ायक— जैसा तुम कहते हो वैसा ही हो।

जिसका मद चू रहा है।

रगड़, घर्षण।

टकराया गया हुआ।

कुछ; अवर्णनीय।

समीपवर्ति, शीघ्र होने वाली (प्रिय बात)।

सचमुच, निश्चय ही।

विदूषकः— (विलोक्य) भो वअस्स ! पेक्ख पेक्ख । एदं क्खु

भो वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व ! एतत् खलु

सविसेस घण सिणिद्ध पाअव विसोहिअं सुरहिहविगन्ध-

सविशेष[1]घनस्निग्ध[2]पादपविशोभितं सुरभिहविर्गन्ध-

गब्भिदुद्दामधूमणिग्गमं अणुव्विग्गसुहनिसण्णसावअगणं

[3]गर्भितोद्दामधूमनिर्गममनुद्वि[4]ग्न सुखनिषण्णशावकगणं

तवोवणं विअ लक्खीअदि ।

तपोवनमिव लक्ष्यते ।

नायकः— सम्यगुपलक्षितम् । तपोवनमेवैतत् । कुतः—

वासोऽर्थं दययेव नातिपृथवः कृत्तास्तरूणां त्वचो,
भग्नानेकजर[5]त्कमण्डलु नभःस्वच्छं पयो नैर्झरम्[6] ।
दृश्यन्ते त्रुटितोज्झिताश्च [7]वटुभिर्मौञ्ज्यः[8]क्वचिन्मेखला
नित्याकर्णनया शुकेन च पदं[10] साम्नामिदं पठ्यते ॥११॥

तदेहि प्रविश्य विलोकयावः ।

[प्रवेशं नाटयतः]

श्लोक नं० ११, अन्वयः—

वासोऽर्थं तरूणां त्वचः दयया इव अतिपृथवः न कृत्ताः ;
नभःस्वच्छं नैर्झरं पयः भग्नानेकजरत्कमण्डलु ; .
क्वचित् च मौञ्ज्यः मेखलाः वटुभिः त्रुटितोज्झिताः दृश्यन्ते ;
नित्याकर्णनया च शुकेन इदं साम्नां पदं पठ्यते ॥

विदूषक— (देख कर) मित्र ! देखो, देखो, निश्चय ही यह अत्यन्त घने और चिकने वृक्षों से सुशोभित तपोवन सा दिखाई दे रहा है, जहां सुगन्धित हवि की सुगन्ध से युक्त बहुत सा धूआं निकल रहा है और जहां पशुओं के शिशु बिना किसी डर के सुख से बैठे हैं।

नायक— (तुमने) ठीक देखा है। यह तपोवन ही है। क्योंकि—

(यहां) वस्त्रों के लिए वृक्षों की छाल मानों दया के कारण थोड़ी थोड़ी ही छीली गई है; आकाश के समान स्वच्छ झरने के जल में टूटे हुए अनेक पुराने कमण्डलु पड़े हैं; कहीं कहीं मूंज की बनी हुई मेखलाएँ दिखाई दे रही हैं जिन्हें ब्रह्मचारियों ने टूट जाने के कारण फैंक दिया है; प्रति दिन सुनने से तोता भी सामवेद का यह मन्त्र पढ़ रहा है।

तो आओ, भीतर जाकर देखते हैं।

[प्रवेश करने का अभिनय करते हैं]

---

1. असाधारण अथवा विशेष रूप से।
2. चिकने, चमकते हुए।
3. भरा हुआ, युक्त।
4. न डरे हुए, न घबराए हुए।
5. जीर्ण।
6. निर्झर (पहाड़ी चश्मे) का (पानी)।
7. वटु: = ब्रह्मचारी; वेदपाठी विद्यार्थी। ब्रह्मचारी ब्राह्मण।
8. मुञ्ज घास की (बनी हुई)
9. कमर पर बान्धने की रस्सी।
10. शब्द, पंक्ति अथवा मन्त्र।

नायकः— (सविस्मयं विलोक्य) अहो ![1] नु खलु मुदित-
मुनिजनप्रविचार्यमाणसन्दिग्ध[2]वेदवाक्यविस्तरस्य,
पठद्बटुजनच्छिद्यमानार्द्रसमिधस्तापसकुमारिकापूर्य-
माणबालवृक्षालवालस्य[3] प्रशान्तरमणीयता[4] तपो-
वनस्य। इह हि—

मधुरमिव वदन्ति स्वागतं भृङ्गनादै-
र्नतिमिव[5] फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः।
मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टिं किरन्तः
कथमतिथिसपर्यां[6] शिक्षिताश्शाखिनोऽपि॥ १२॥

तन्निवासयोग्यमिदं तपोवनम्। मन्ये भविष्यतीह वसता-
मस्माकं परा निर्वृत्तिः[7]।

विदूषकः — (इतस्ततो विलोक्य)
भो वअस्स किं क्खु एदे ईसिवलिअ-
भो वयस्य किं खल्वेते ईषद्वलित —[8]
कन्धरा णिच्चलमुहावसरंतदरदलिअदब्भकवलाः समुण्णमिद-
कन्धरा निश्चलमुखापसरद्दर[9]दलितदर्भकवलाः समुन्नमित

श्लोक नं १२ अन्वयः—

शाखिनोऽपि भृङ्गनादैः मधुरं स्वागतमिव वदन्ति ;
फलनम्रैः शिरोभिः अमी नतिमिव कुर्वते ;
पुष्पवृष्टिं किरन्तः मम अर्घ्यमिव ददतः ;
कथं (शाखिनोऽपि) अतिथिसपर्यां शिक्षिताः।

नायक– (आश्चर्य के साथ देखकर) अहो यह तपोवन कितना शान्त और सुन्दर है, जहां प्रसन्न मुनिगण सन्दिग्ध वेदवाक्यों पर विचार कर रहे हैं, जहां पढ़ने वाले ब्रह्मचारी गीली गीली समिधाएँ (हवनार्थ लकड़ियां) काट रहे हैं, और जहां ऋषि कन्याएं छोटे छोटे वृक्षों की क्यारियों को (जल से) भर रही हैं। यहां निश्चय से—

वृक्ष भौरों की गुञ्जार से मानों मधुर स्वागत (के शब्द) का उच्चारण कर रहे हैं; फल भार से झुके हुए सिरों से मानों यह प्रणाम कर रहे हैं; और फूलों की वर्षा करते हुए मानों (हमें) अर्घ्य दे रहे हैं। क्या वृक्ष भी (यहां) अतिथि पूजा (करने की विधि) सिखाए गए हैं ?

अतः यह तपोवन (हमारे) रहने योग्य है। मेरा विचार है कि यहां रहते हुए हमें अत्यन्त सुख प्राप्त होगा।

विदूषक— (इधर उधर देखकर) मित्र, ये हरिण अपनी गरदनों को थोड़ा घुमाए हुए हैं, इन के निश्चल मुखों से अर्ध-चर्वित कुश के कौर गिर रहे हैं, ये ऊपर उठा कर कान लगाए हुए

---

1. "अहो नु खलु" आश्चर्य द्योतक है।
2. जिन के अर्थ अनिश्चित हैं, स्पष्ट नहीं, (सन्देहयुक्त)।
3. क्यारी।
4. शान्त सुन्दरता—तपोवन शान्त भी है और सुन्दर भी।
5. नति = सिर झुका कर प्रणाम करना।
6. सपर्या = पूजा। 7. तृप्ति, सुख, आनन्द। (परा = बहुत)
8. मोड़ना, घुमाना।
9, थोड़ा चबाए हुए।

दिएणैककरणणा सुहणिमीलिदलोअणा आअणांता विअ
दत्तैककर्णाः सुखनिमीलितलोचना आकर्णयन्त इव

हरिणा लक्खीअन्ति ।
हरिणाः लक्ष्यन्ते ।

नायकः— (कर्णं दत्वा) सखे ! सम्यगुपलक्षितम् । तथाहि-

स्थानप्राप्त्या दधानं प्रकटितगमकां[1] मन्द्रतार व्यवस्थां
निर्ह्रादिन्या[2] विपञ्च्या[3] मिलितमलिरुतेनेव तन्त्रीस्वनेन ।
एते दन्तान्तरालस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं नियम्य
[4]व्याजिह्माङ्गाःकुरङ्गाः स्फुटललितपदंगीतमाकर्णयन्ति ॥ १३ ॥

विदूषकः— भो वअस्स ! को उण एसो तवोवणे गाअदि ?
भो वयस्य ! कः पुनरेष तपोवने गायति ?

नायकः— यथैताः कोमलाङ्गुलितलाभिहन्यमाना[5] नाति-
स्फुटं क्वणन्ति तन्त्र्यः, काकलीप्रधानं च गीयते,
तथा तर्कयामि (अङ्गुल्यग्रेणाग्रतो निर्दिशन्) अस्मिन्ना-
यतने देवतामाराधयन्ती काचिद्दिव्या योषिदुपवीणा-
यतीति ।

श्लोक नं १३, अन्वयः—

एते कुरंगाः, दन्तान्तरालस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं नियम्य व्याजिह्मांगाः, स्थान प्राप्त्या प्रकटितगमकां मन्द्रतारव्यवस्थां दधानं, निर्ह्रादिन्याः विपञ्च्याः तन्त्रीस्वनेन अलिरुतेन इव मिलितम्, स्फुटललितपदं गीतमाकर्णयन्ति ।

हैं, आनन्द से आंखें बन्द किए हुए हैं— मानो ये कुछ सुनते से दिखाई देते हैं।

क— (कान लगाकर) मित्र ठीक समझे। क्योंकि—
ये हरिण, दांतों के बीच स्थित घास के कौर के चबाने की आवाज़ को रोक कर, अपने अंगों को टेढ़े किए हुए, स्पष्ट तथा सुन्दर पदों वाले गीत को सुन रहे हैं। यह गीत उचित उच्चारण स्थान के प्राप्त करने से गमकों को प्रकटित करने वाली, धीमे तथा उच्च स्वरों की व्यवस्था लिए हुए है। और (यह गीत) बजती हुई बीणा के तारों के गाने के साथ भंवरों की गुञ्जार के समान मिला हुआ है।

क— मित्र, तपोवन में यह कौन गा रहा है?

यक— क्योंकि कोमल अंगुलियों से ताड़ित (बीणा के) तार कोई बहुत स्पष्ट रुप से नहीं बज रहे और गीत में काकली (मधुर तथा सूक्ष्म स्वर) प्रधान है, इससे मेरा विचार है—कि (अंगुली के अग्रभाग से सामने इशारा करते हुए) इस मन्दिर में देवी की आराधना करती हुई कोई दिव्या स्त्री बीणा बजा रही है।

अंगुलियों को हिलाने की विधियां।

बजने वाली, बजती हुई।

विपञ्ची = बीणा।

टेढ़े, झुके हुए।

ताड़ित

विदूषकः—भो वअस्स ! एहि अह्म वि देवदाअदणं

भो वयस्य ! एहि, आवामपि देवतायतनं प्रेक्षावहे

नायकः— वयस्य ! साधूक्तं भवता । वन्द्याः खलु देवता।

(उपसर्पन् सहसा स्थित्वा) वयस्य ! कदाचिद् द्रष्टु

अनर्होऽयं स्त्रीजनो भविष्यति । तदनेन तावत्तमाल

[1]गुल्मकेनान्तरितौ देवतादर्शनावसरं प्रतिपालयावः

[तथा कुरुतः

[ततः प्रविशति भूमावुपविष्टा वीणां वादयन्ती मलयवती चेटी च

नायिका— (गायति)

उत्फुल्लकमलकेसर परागगौरद्युते ! मम हि गौरि !

अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु[2] भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥

नायकः— (कर्णं दत्वा) वयस्य ! अहो[3] गीतम् !

वाद्यम् !

श्लोक नं १४, अन्वयः—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते हि भगवति गौरि !

युष्मत्प्रसादेन मम अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु ।

क— मित्र, आओ, हम भी इस मन्दिर को देखें।

— मित्र तुमने ठीक कहा है। देवताओं की वन्दना अवश्य करनी चाहिए। (पास जाते जाते सहसा रुक कर) परन्तु मित्र, शायद यह कोई स्त्री हो जिसको देखना उचित न हो। अतः तमाल की झाड़ी के पीछे छिप कर हम देवी के दर्शन के उचित अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। (ऐसा ही करते हैं)
[भूमि पर बैठी हुई, वीणा बजाती हुई मलयवती और उसकी चेटी का प्रवेश।]

का— (गाती है):—खिले हुए कमल के केसर की धूलि के समान गौर कान्ति वाली भगवती गौरी! आपकी कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण हो।

क— (कान लगाकर) मित्र, वाह गाना! वाह बजाना!!

गुल्मक=वृक्षों का झुण्ड; लता समूह; झाड़ी।

प्र+सिध्+लोट्—पूर्ण होवे।

वाह! प्रशंसावाचक शब्द।

व्यक्तिर्व्यंञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो [1]द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधायं लयः ।
गोपुच्छाप्रमुखाःक्रमेण [2]यतयस्तिस्त्रोऽपि सम्पादिता-
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः[3] सम्यक्त्रयो दर्शिताः ॥ १५ ॥

चेटी-(सप्रणयम्) भट्टिदारिए ! चिरं क्खु तुए वादिदं । ण क्खु
भर्तृदारिके ! चिरं खलु त्वया वादितम् । न खलु
दे परिस्समो अग्गहत्थाणं?
ते परिश्रमोऽग्रह[4]स्तयोः ?

नायिका-(साधिक्षेपम्) हञ्जे चउरिए ! कुदो मे देईए पुरदो वीणं
हञ्जे चतुरिके ! कुतो मे देव्याः पुरतो वीणां
वादअन्तीए अग्गहत्थाणं परिस्समो !
वादयन्त्या अग्रहस्तयोः परिश्रमः !

चेटी—भट्टिदारिए !
भर्तृदारिके !
णं भणामि किं एदाए णिक्करुणाए पुरदो वाइदेण
ननु भणामि किमेतस्या निष्करुणायाः पुरतो वादितेन

श्लोक नं० १६, अन्वयः—

अत्र अमुना दशविधेनापि व्यञ्जनधातुना व्यक्तिः लब्धा ;
द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नः त्रिधा अयं लयः विस्पष्टः ;
क्रमेण गोपुच्छाप्रमुखाः तिस्रः यतयः अपि सम्पादिताः ;
तत्त्वौघानुगताश्च त्रयो वाद्यविधयः सम्यक् दर्शिताः ।

इस गीत में वीणा बजाने के दश प्रकार के तरीकों से स्पष्टत प्राप्त हुई है। द्रुत, मध्य तथा विलम्बित तीनों प्रकार के लय भी स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। क्रम से गोपुच्छा आदि तीन यतियां भी (यथा स्थान) रखी गई हैं। और तत्त्व, ओघ तथा अनुगत नामक तीनों वाद्य-विधियां भी भली प्रकार से (इसके वीणा वाद्य में) दिखाई गई हैं।

चेटी— (प्रेम पूर्वक) भर्तृदारिके (राजकुमारी)! बहुत देर से आप वीणा बजा रही हैं। क्या आप की अंगुलियां थक नहीं गईं?

नायिका— (झिड़कती हुई) अरी चतुरिका! देवी के आगे वीणा बजाने से मेरी अंगुलियों को थकावट कहाँ?

चेटी— राजकुमारी! मैं तो कहती हूं कि इस दयाहीन (देवी) के आगे वीणा बजाने से क्या लाभ? जो इतने दिनों तक (अन्य)

1. द्रुत= तेज़; मध्य=दरमियानी ; लम्बित= धीमी

2. विराम। 3. वीणा बजाने के तरीके।

4. अग्रहस्तं=अंगुलियां।

जा एत्तिअं कालं कण्णआजणदुक्करेहिं णिअमोवासणेहिं
या एतावन्तं कालं कन्यकाजनदुष्करैर्नियमोपासनैः
आराधअन्तीए अज्जवि ण दे पसादं दंसेदि।
आराधयन्त्या अद्यापि न ते प्रसादं दर्शयति।

१ फ.-भो वअस्स ! कण्णआ क्खु एसा, किं ण पेक्खम्ह ?
भो वयस्य ! कन्यका खल्वेषा। किं न प्रेक्षावहे ?

— को दोषः। निर्दोषदर्शना हि कन्यका भवन्ति।
किन्तु कदाचिदस्मान् दृष्ट्वा बालभावसुलभलज्जासाध्वसान्न
चिरमिह तिष्ठेत्। तदनेनैव लताजालान्तरेण पश्यावः !

विदूषकः— एव्वं करेम्ह।
एवं कुर्वः। [उभौ पश्यतः]

विदूषकः— (दृष्ट्वा सावस्मयम्)
भो वअस्स ! पेक्ख पेक्ख। अहह अच्चरिअं !
भो वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। अहह, आश्चर्यम् !
ण केवलं वीणा विण्णाणेण्णेव्व सुहं करेदि, इमिणा वीणा-
न केवलं वीणा[1]विज्ञानेनैव सुखं करोति, अनेन वीणा—
विण्णाणाणुरूवेण रूवेण वि अच्छीणं सुहं उप्पादेदि।
विज्ञानानुरूपेण रूपेणापि अक्ष्णोः सुखमुत्पादयति।
का उण एसा ? किं दाव देई ? आहो णाअकण्णआ ?
का पुनरेषा ? किं तावत् देवी ? आहोस्वित् नागकन्यका ?
आहो विज्जाहरदारिआ ? आहो सिद्धकुलसंभवेत्ति ?
आहोस्वित् विद्याधरदारिका ? आहोस्वित् सिद्धकुलसम्भवेति ?

कन्याओं के लिए अति कठिन नियम और उपवासों से आराधना करने पर भी अभी तक तुम्हारे ऊपर कोई कृपा नहीं दिखाती।

विदूषक— मित्र, यह तो कन्या है। हम क्यों न देखें ?

नायक— हाँ क्या दोष है ? कन्याओं को देखने में कोई दोष नहीं होता। परन्तु कदाचित् हमें देखकर बालिकाओं की स्वाभाविक लज्जा और भय से देर तक यहां न ठहरे। अतः इसी लताकुञ्ज की ओट से ही देखते हैं।

विदूषक—अच्छा, ऐसा ही करते हैं।

[दोनों देखते हैं]

विदूषक—(देखकर, आश्चर्य के साथ) मित्र ! देखो, देखो। क्या ही हैरानी की बात है ? यह केवल वीणा बजाने की कुशलता से ही आनन्दित नहीं कर रही, (वरन्) वीणा विज्ञान के अनुरूप अपने सौन्दर्य से भी आंखों को आनन्द देती है। तो फिर कौन है ? क्या यह देवी है ? या नागकन्या ? या विद्याधर कन्या ? या सिद्धकुल प्रसूता है ?

---

1. विज्ञान = कुशलता, प्रवीणता।

नायकः-(सस्पृहमवलोकयन्)—
वयस्य, केयमिति नावगच्छामि । एतत्पुनरहं जानामि—
स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुः सहस्रं[1] हरे-
र्नागी चेन्न रसातलं शशभृता[2] शून्यं मुखेऽस्याः स्थिते ।
जातिर्नः सकलान्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं
स्यात् सिद्धान्वयजा[3] यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्ततः ॥१६॥

विदूषकः — (नायकमवलोक्य सहर्षमात्मगतम्)
दिट्ठिआ चिरस्स दाव कालस्स पडिदो
दिष्ट्या चिरस्य तावत्कालस्य पतितः
क्खु एसो गोअरे मम्महस्स ।
खल्वेष गोचरे मन्मथस्य । [आत्मानं निर्दिश्य भोजनमभिनीय]
अहवा, णहि णहि मम एव्व एक्कस्स बह्मणस्स ।
अथवा, नहि नहि ममैवैकस्य ब्राह्मणस्य ।

चेटी— (सप्रणयं) भट्टिदारिए ! णं भणामि-किं एदाए
भर्तृदारिके ! ननु भणामि-किमेतस्या
णिक्करुणाए पुरदो वाइदेण ?
निष्करुणायाः पुरतो वादितेन ? [इति वीणामाक्षिपति]

श्लोक नं० १६, अन्वय :—

यदि (एषा) स्वर्गस्त्री (अस्ति) तत् हरेः सहस्रं चक्षुः कृतार्थमभवत् । नागी चेत्, अस्याः मुखे स्थिते रसातलं शशभृता शून्यं न (अस्ति)। विद्याधरी चेत्, जातिर्नः सकलान्यजातिजयिनी । यदि सिद्धान्वयजा स्यात्, ततः सिद्धाः त्रिभुवने प्रसिद्धाः ॥

नायक— (बड़े चाव के साथ देखते हुए) मित्र, मैं यह तो नहीं जानता यह कौन है। परन्तु इतना जानता हूँ कि—
यदि यह स्वर्ग की देवकन्या है तो इन्द्र की हज़ार आँखें (इसे देखने से) सफल हो गईं; यदि यह नागकन्या है तो इस के मुख के होते हुए पाताल चन्द्रमा से रहित नहीं; यदि यह विद्याधरी है तो हमारी जाति ने अन्य सब जातियों को परास्त कर दिया (समझो), और यदि यह सिद्धों के वंश में उत्पन्न हुई है तो फिर सिद्ध लोग त्रिलोकि में प्रसिद्ध हो गए (समझो)॥

विदूषक— (नायक को देख कर, हर्ष के साथ, मन ही मन)—सौभाग्य से बहुत दिनों के पश्चात् यह कामदेव के वश में पड़ा है।
(अपनी ओर इशारा करके, खाने का अभिनय करते हुए) अथवा, (कामदेव के) नहीं, केवल मुझ ब्राह्मण के (वश में पड़ा है)।

चेटी—(प्रेम पूर्वक) राजकुमारी! मैं तो कहती हूँ कि इस दयाहीन देवी के आगे वीणा बजाने से क्या लाभ?

[यह कह, वीणा छीन लेती है]

---

1. हरेः = इन्द्र की। अर्थात् इन्द्र की हज़ार आंखों का होना व्यर्थ ही नहीं गया। इस (नायिका) की सुन्दरता की क़दर पाने के लिए दो की बजाए हज़ारों की आवश्यकता है।
2. शशभृत् = चंद्रमा। शश का अर्थ है ख़रगोश। चन्द्रमण्डल में जो दाग़ है उसे ख़रगोश की उपमा देते हैं। इसलिए चन्द्रमा को शशाङ्क अथवा शशभृत् कहते हैं।
पाताल में चन्द्रमा नहीं होता, परन्तु इसका मुख उस कमी को पूरा कर रहा है। अर्थात् इस का मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है।
3. अन्वय = कुल, वंश।

नायिका—(सरोषम्) हञ्जे ! मा भअवदिं गोरिं अधिक्खिव।
हञ्जे ! मा भगवतीं गौरीमधिक्षिप[1] ।
णं अज्ज किदो मे भअवदीए पसाओ।
नन्वद्य कृतो मे भगवत्या प्रसादः ।

चेटी— (सहर्षम्) भट्टिदारिए ! कहेहि दाव कीरिसो सो ?
भर्तृदारिके ! कथय तावत्कीदृशः स ?

नायिका—हञ्जे ! जाणामि, अज्ज सिविणए एदं एव्व
हञ्जे ! जानामि, अद्य स्वप्न एतामेव
वीणं वादअन्ती भअवदीए गोरीए भणिदह्मि—
वीणां वादयन्ती भगवत्या गौर्या भणितास्मि—
"वच्छे मलअवदि ! परितुट्ठह्मि तुह एदिणा वीणा-
"वत्से मलयवति ! परितुष्टास्मि तवैतेन वीणा-
विण्णाणादिसएण इमाए‌अ बालजणदुक्कराए असाहारणाए
विज्ञानातिशयेन, अनयाच बालजनदुष्करयाऽसाधारणया
ममोवरि भत्तिए। ता विज्जाहरचक्कवट्टी अचिरेण ज्जेव
ममोपरि भक्त्या । तद्विद्याधरचक्रवर्ती अचिरेणैव
दे पाणिग्गहणं णिव्वत्तइस्सदि' त्ति।
ते पाणिग्रहणं निर्वर्त्तयिष्यतीति ।

चेटी—(सहर्षम्)
भट्टिदारिए ! जइ एव्वं, ता कीस सिविणओ इमं भणीअदि ?
भर्तृदारिके ! यद्येवं, तत्कस्मात्स्वप्नोऽयं भण्यते ?

नायिका— (क्रोध के साथ) सखी, भगवती गौरी को बुरा भला मत कह। निश्चय ही आज देवी ने मुझ पर कृपा की है।

चेटी— (प्रसन्नता के साथ)— राजकुमारी, तो कहो वह क्या है?

नायिका—सखी, मैं यह जानती हूँ कि आज स्वप्न में जब मैं यही वीणा बजा रही थी तो भगवती गौरी ने मुझसे कहा—"वत्से मलयवती, मैं तेरी वीणा बजाने की कुशलता और मेरे ऊपर कन्याओं के लिए कठिन तेरी इस असाधारण भक्ति से मैं प्रसन्न हूँ। अत: (कोई) विद्याधर चक्रवर्ती (राजा) शीघ्र ही तेरा पाणिग्रहण करेगा।

चेटी— (प्रसन्नता के साथ) राजकुमारी! यदि ऐसा है तो इसे स्वप्न क्यों कहती हो। निश्चय ही देवी ने तुम्हारे मन में

---

1. निन्दा करना।

णं हिअअत्थिदो वरो देईए दिण्णो
ननु हृदयस्थितो वरो[1] देव्या दत्त: ।

विदूषकः—(श्रुत्वा) भो वअस्स ! अवसरो क्खु एसो अह्माणं
भो वयस्य ! अवसर: खल्वेषोऽस्माकं
देवीदंसणस्स । ताएहि उपसप्पह्म ।
देवीदर्शनस्य । तदेह्युपसर्पाव: ।

नायकः— न तावत्प्रविशामि ।

विदूषक: — (अनिच्छन्तमपि नायकं बलादाकृष्य, उपसृत्य)
सोत्थि भोदिए। भोदि, सच्चं एव्व चदुरिआ भणादि
स्वस्ति[2] भवत्यै । भवति ! सत्यमेव चतुरिका भणति,
वरो एव्व एसो देईए दिण्णो ।
वर एवैष देव्या दत्त: ।

नायिका—([3]ससाध्वसमुत्तिष्ठन्ती नायकमुद्दिश्यापवार्य)
हञ्जे ! को णु क्खु एसो ?
हञ्जे ! को नु खल्वेष: ?

चेटी —(नायकं निरूप्यापवार्य)
इमाए अणण्णसरिसीए आकिदीए एसो सो भअवदीए
अनयाऽनन्यसदृश्या[4]ऽऽकृत्या एष स भगवत्या
गोरीए पसादो त्ति तक्केमि ।
गौर्याः प्रसाद इति तर्कयामि ।

[नायिका सस्पृहं सलज्जञ्च नायकमवलोकयति]

ठहरा हुआ वर(ही) प्रदान कर दिया है

विदूषक— (यह सुनकर) मित्र, हमारे लिए देवी के दर्शन करने का यही (उचित) अवसर है। तो आओ, समीप चलें।

नायक— मैं तो नहीं जाऊँगा।

विदूषक— (न चाहते हुए भी नायक को ज़बरदस्ती खींच कर, उनके पास जाकर) श्रीमती जी, आपका कल्याण हो। चतुरिका सच ही कहती है। देवी ने यह वर ही दिया है।

नायिका— (घबराहट से उठती हुई, नायक के बारे में, अलग) सखी, यह कौन है ?

चेटी— (नायक को देखकर, अलग) इस असाधारण आकृति से तो मेरा विचार है कि (यही) भगवती गौरी का वर है !

[नायिका रुचि और लज्जा के साथ नायक को देखती है]

---

1. वर:= 'वरदान' अथवा 'पति,
चेटी सम्भवतः 'वरदान' के अर्थ में प्रयोग करती है; परन्तु विदूषक इसे 'पति' अर्थ में लेकर कहता है।
2. 'स्वस्ति' के साथ चतुर्थी आती है।
3. साध्वस=डर; घबराहट,
4. अनन्यसदृशी =जो किसी के साथ नहीं मिलती। असाधारण। अद्वितीय।

नायकः-तनुरियं तरलायतलोचने श्वसितकम्पितपीनघनस्तनि !
श्रममलं[1] तपसैव गता पुनः किमिति संभ्रमधारिणि ! खिद्यते ॥१७॥

नायिका — (अपवार्य)

हञ्जे ! अदिसद्धसेण ण सक्कुणोमि एदस्स संमुहे ठादुं ।

हञ्जे ! अतिसाध्वसेन न शक्नोम्येतस्य सम्मुखे स्थातुम् ।

(नायकं तिर्यक् सलज्जञ्च पश्यन्ति किञ्चित्परावृत्तमुखी तिष्ठति)

चेटी — भट्टिदारिए ! किं एदम् ?

भर्तृदारिके ! किमेतत् ?

नायिका—हञ्जे ण सक्कुणोमि एदस्स आसण्णे चिट्ठिदुं ।

हञ्जे न शक्नोम्येतस्यासन्ने स्थातुम् ।

ता एहि अण्णदो गच्छह्म ।

तदेह्यन्यतो गच्छावः । (इत्युत्थातुमिच्छति)

विदूषकः—भो ! भाइदि क्खु एसा ।

भो ! बिभेति खल्वेषा ।

मम पठिआविज्जं विअ मुहुत्तअं धारेमि ।

मम पठितविद्यामिव मुहूर्त्तं धारयामि ।

नायकः — को दोषः ?

श्लोक नं० १७, अन्वयः—

तरलायतलोचने ! श्वसितकम्पितपीनघनस्तनि ।
इयं (ते) तनुः तपसा एव अलं श्रमम् गता ।
सम्भ्रम धारिणि ! किमिति पुनः खिद्यते ?

नायक— हे बड़ी बड़ी चञ्चल आंखों वाली ! सांस लेने से कांपते हुए स्थूल तथा घने स्तनों वाली ! तुम्हारा यह शरीर तपस्या से ही काफ़ी थक चुका है ; तो हे घबराई हुई ! फिर इसे और कष्ट क्यों देती हो ?

नायिका— (अलग) सखी ! अत्यन्त घबराहट के कारण मैं इस के सामने नहीं ठहर सकती।

[नायक को तिरछी आंखों और लज्जा से देखती हुई मुख को कुछ फेर कर खड़ी रहती है]

चेटी— राजकुमारी ! यह क्या ?

नायिका— सखी, मैं इस के समीप नहीं ठहर सकती। तो, आओ कहीं और चलें। (यह कह कर उठना चाहती है)

विदूषक— अरे, यह तो डरती है। मैं अपनी पढ़ी हुई विद्या के समान इसे पल भर रोक सकता हूँ।

नायक- क्या हर्ज है ?

---

1. अलम्=बहुत; अत्यन्त; काफ़ी; पर्याप्त।

विदूषकः—भोदि ! किं एत्थ तुम्हाणं तवोवणे ईरिसो आआरो

भवति ! किमत्र युष्माकं तपोवने ईदृश आचारो[1]

जेण अदिही आअदो वाआमत्तेण चि ण संभावीअदि ।

येनातिथिरागतो वाङ्मात्रेणापि न सम्भाव्यते ?

चेटी— (नायिकां दृष्ट्वा, आत्मगतम्)

अणुरज्जदि विअ एत्थ एदाए दिठ्ठी । भोदु एव्वं दाव भणिस्सं ।

अनुरज्यत इवात्रैतस्या दृष्टिः । भवत्वेवं तावद्भणिष्यामि ।

(प्रकाशम्) भट्टिदारिए ! जुत्तं भणादि बह्मणो । उइदो

भर्तृदारिके ! युक्तं भणति ब्राह्मणः । उचितः

क्खु दे अदिहिजणसक्कारो । ता किं ईरिसे महाणुभावे

खलु तेऽतिथिजनसत्कारः । तत्किमीदृशे महानुभावे

पडिवत्तिमूढा चिट्ठसि ?

प्रतिपत्तिमूढा तिष्ठसि ?

अहवा चिट्ठ तुमं । अहं एव्व जधाणुरूवं करइस्सं ।

अथवा तिष्ठ त्वम् । अहमेव यथानुरूपं करिष्यामि ।

(नायकमुद्दिश्य) साअदं अज्जअस्स ।

स्वागतमार्यस्य !

आसणपडिग्गहेण अलंकरेदु अज्जो इमं पदेसं ।

आसनपरिग्रहेणालंकरोत्वार्य इमं प्रदेशम् ।

विदूषकः— भो वअस्स ! सोहणं एसा भणादि ।

भो वयस्य ! शोभनमेषा भणति ।

विदूषक— श्रीमती जी, क्या यहां आप के तपोवन में यही रीति है कि आए हुए अतिथि का शब्दों से भी सत्कार नहीं किया जाता ?

चेटी— (नायिक को देखकर, अपने आप) इस की दृष्टि तो मानों इसी पर अनुरक्त है। अच्छा तो फिर ऐसे कहती हूं। (प्रकट) राजकुमारी, यह ब्राह्मण ठीक ही कहता है। अतिथि का सत्कार करना आपके लिए उचित ही है। तो फिर ऐसे महानुभाव के विषय में आप किंकर्तव्य विमूढ़ सी क्यों खड़ीहै ? अथवा तू ठहर। मैं ही यथोचित करती हूं। (नायक से) आर्य, आप का स्वागत है। आसन ग्रहण करके इस स्थान को अलंकृत कीजिये।

विदूषक—मित्र ! यह ठीक कहती है।

---

1. आचार:=रीति, रिवाज।
2. प्रतिमत्तिमूढा=जो यह नहीं जानती कि क्या करना चाहिए। अथवा, उचित व्यवहार क्या है ?
3. 'स्वागतं' के साथ प्रायः चतुर्थी आती है।

उवविसिअ मुहुत्तअं वीसमम्ह ।
उपविश्य मुहूर्तं विश्राम्यावः ।

नायकः— युक्तमाह भवान् । (उभावुपविशतः)

नायिका– (चेटीमुद्दिश्य)

अइ परिहाससीले ! मा एव्वं करेहि । जइ कदावि कोवि
अयि परिहासशीले ! मैवं कुरु । यदि कदापि कोऽपि
तावसो पेक्खदि तदो मं [1]अविणीदेत्ति सभावइस्सदि
तापसः प्रेक्षते ततो मामविनीतेति सम्भावयिष्यति

[ततः प्रविशति तापसः]

तापसः— आज्ञापितोऽस्मि कुलपतिना[2] कौशिकेन यथा–
'वत्स शाण्डिल्य ! पितुराज्ञया सिद्धराजमित्रावसुर्भ-
विष्यद्विद्याधरचक्रवर्तिनं कुमारजीमूतवाहनमिहैव मलय-
पर्वते क्वापि वर्तमानं भगिन्या मलयवत्या वरहेतोर्द्रष्टु-
मद्य गतः । तच्च प्रतीक्षमाणाया मलयवत्याः कदा-
चिन्मध्यन्दिनसवनवेलातिक्रामेत् । तदेनामाहूयागच्छ'
इति । तद्यावद्गौरीगृहमेव गच्छामि । (परिक्रम्य भूमिं
निरूप्य सविस्मयम्) अये ! कस्य पनरियं पांशुले
भूप्रदेशे प्रकाशचक्रम्[3] चिन्हा पदपंक्तिः ? (अग्रतो
जीमूतवाहनं निरूप्य) नूनमस्यैवेयं महानुभावस्य।
तथाहि–

यहां बैठ कर थोड़ा आराम (ही) कर लें।

नायक—तुम ने ठीक ही कहा है (दोनों बैठ जाते हैं।)

नायिका—(चेटी से) अरी परिहासशील! ऐसा मत कर। यदि कदाचित् कोई तपस्वी देख ले तो मुझे निर्लज्ज ही समझेगा।

[एक तपस्वी का प्रवेश]

तपस्वी—कुलपति कौशिक ने मुझे आज्ञा दी है कि "वत्स शाण्डिल्य, पिता की आज्ञा से सिद्धराज मित्रवसु विद्याधरों के भावी चक्रवर्ती सम्राट् जीमूतवाहन को, जो यहीं मलय पर्वत पर ही कहीं है, अपनी बहिन मलयवती लिए वर निश्चित करने के लिए आज ही देखने गए हैं। उसकी प्रतिक्षा करते हुए मलयवती को कदाचित् दोपहर के स्नान का समय बीत जाए; अत: उसे बुला लाओ।' इसलिए गौरी मन्दिर को ही जाता हूं। (घूमकर, पृथ्वी को देख कर, आश्चर्य के साथ) अरे, इस धूलियुक्त प्रदेश पर किस के पैरों के चिह्न हैं जिनमें चक्र स्पष्ट दिखाई दे रहा है। (आगे जीमूतवाहन को देख कर) निश्चय ही ये पदचिह्न इसी महानुभाव के हैं। क्योंकि—

---

1. अविनीता = जो विनीत नहीं; निर्लज्ज, उद्दण्ड।
2. 'कुलपति' = कुलपति उस ऋषि को कहते हैं जो १०,००० छात्रों को पढ़ाता है। वही उनके भोजन तथा वस्त्र आदि का भी प्रबन्ध करता है। अथवा, ऋषि-श्रेष्ठ, ऋषि-गुरु।
3. कहते हैं जिसके पैरों की लकीरों में चक्र का चिन्ह हो वह चक्रवर्ती बनता है।

उष्णीषः स्फुट एष मूर्धनि विभात्यूर्णेयमन्तर्भ्रुवो-
चक्षुस्तामरसानुकारि[1] हरिणा वक्षःस्थलं स्पर्धते।
चक्राङ्कं च यथा पदद्वयमिदं मन्ये तथा कोऽप्ययं
नो विद्याधर चक्रवर्तिपदवीमप्राप्य विश्राम्यति ॥१८॥

अथवा कृतं[2] संदेहेन। व्यक्तमनेनैव जीमूतवाहनेन भवितव्यम्। (मलयवतीं निरूप्य) अये! इयमपि राजपुत्री (उभौ विलोक्य) चिरात्खलु युक्तकारी विधिः स्याद्यदि युगलमिदमन्योऽन्यानुरूपं घटयेत्।

(उपसृत्य, नायकमुद्दिश्य) स्वस्ति भवते!

नायकः— भगवन्! जीमूतवाहनोऽभिवादयते।

(उत्थातुमिच्छति)

तापसः—अलमलमभ्युत्थानेन। ननु "[3]सर्वस्याभ्यागतो गुरुः" इति भवानेवास्माकं पूज्यः। तद्यथासुखं स्थीयताम्।

नायिका—अज्ज पणमामि।

आर्ये प्रणमामि।

श्लोक नं० १८, अन्वयः—

मूर्धनि एष उष्णीषः स्फुटः। अन्तर्भ्रुवोः इयम् ऊर्णा विभाति।
तामरसानुकारि चक्षुः। वक्षःस्थलं हरिणा स्पर्धते।
यथा च इदं पदद्वयं चक्राङ्कम्, तथा मन्ये अयं कोऽपि
विद्याधरचक्रवर्तिपदवीमप्राप्य नो विश्राम्यति॥

मस्तक पर यह उष्णीष (मुकुट) का सा चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहा है। भौंहों के बीच ऊर्णा (भौरी) का सा चिह्न शोभायमान है। लाल कमल के समान इस के नेत्र हैं। छाती शेर का मुकाबला करती है। और क्योंकि इस के दोनों पैरों में चक्र का चिह्न है। इससे मेरा विचार है कि यह—जो भी कोई यह है—विद्याधरों के चक्रवर्ती पद को प्राप्त किए बिना आराम नहीं करेगा॥ अथवा, सन्देह से क्या? स्पष्ट ही यह जीमूतवाहन ही होगा। (मलयवती को देखकर) अरे, यह राजकुमारी भी (यहीं)? [दोनों को देख कर] यदि विधाता एक दूसरे के योग्य इस जोड़ी को मिला दे तो (समझो कि) बड़ी देर बाद उसने कोई ठीक काम किया है। (पास जाकर, नायक से) आप का कल्याण हो।

नायक— भगवन् मैं जीमूतवाहन आपको प्रणाम करता हूं। (उठना चाहता है)।

तापस— नहीं नहीं, उठिए मत। "अतिथि सब का पूज्य होता है", इसलिए आप ही हमारे पूजनीय हैं। अतः सुखपूर्वक बैठे रहिए।

नायिका— आर्य! मैं प्रणाम करती हूँ।

---

1. लाल कमल।
2. कृतं के साथ तृतीया आती है।
3. पूरा श्लोक इस प्रकार है:—

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः॥
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥

तापसः— (नायिकां निर्दिश्य) वत्से ! अनुरूपभर्तृगामिनी भूयाः। राजपुत्रि ! त्वामाह कुलपतिः कौशिकः यथा- "अतिक्रामति मध्यन्दिनसवनवेला तत्त्वरितमागम्य- तामिति।

नायिका— जं गुरुजणो आणवेदि। (आत्मगतम्)

यद्गुरुजन आज्ञापयति।

एक्कत्तो गुरुवअणं अण्णत्तो दइअदंसणसुहं त्ति।

एकतो गुरुवचनमन्यतो दयितदर्शनसुखमिति।

गमणागमणविमूढं अज्जवि दोला एदि मे हिअअम्॥१६॥

गमनागमनविमूढमद्यापि दोलायते[1] मे हृदयम्॥

(उत्थाय निःश्वस्य सलज्जं सानुरागं च नायकं पश्यन्ती तापससहिता निष्क्रान्ता)

नायकः- (सोत्कण्ठं निःश्वस्य नायिकां पश्यन्)

अनया जघनाभोगभरमन्थरयानया।

अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये निहितं पदम्॥२०॥

विदूषकः—भो दिट्ठं जं पेक्खिदव्वं। ता दाणिं मज्झण्णसूर-

भो दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यम्। तदिदानीं मध्याह्नसूर्य-

सन्दाव दिउणिदो विअ मे जठरग्गी धमधमाअदि

संतापद्विगुणित इव मे जठराग्निर्धमधमायते[2]।

श्लोक नं० :१६, अन्वयः— एकतः गुरुवचनम्, अन्यतो दयितदर्शनसुखम्; इति गमनागमनविमूढं मे हृदयम् अद्यापि दोलायते॥

श्लोक नं०: २०, अन्वयः—जघनाभोगभरमन्थरयानया अनया अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये पदं निहितम्॥

तापस— (नायिका से) बच्ची, (ईश्वर करे) तू योग्य पति को प्राप्त करे। राजपुत्रि, कुलपति कौशिक ने तुम्हें कहा है कि 'दोपहर के स्नान पूजा का समय बीता जा रहा है, अतः शीघ्र आ जाओ'।

नायिका— जैसी गुरुजनों की आज्ञा। (मन में)—

एक ओर गुरु जी की आज्ञा है और दूसरी ओर प्रियतम के दर्शनों का सुख। इस प्रकार जाने अथवा न जाने के विषय में अनिश्चित मेरा मन अब भी डांवांडोल है॥

[उठकर तथा गहरी सांस लेकर लज्जा और प्रेम से नायक को देखती हुई तपस्वी के साथ चली जाती हैं]

नायक (उत्कण्ठापूर्वक गहरी सांस लेकर जाती हुई नायिका को देखते हुए) — विशाल नितम्बों के भार से मन्द गति वाली इस सुन्दरी ने अन्यत्र जाते हुए भी मेरे मन में पैर जमा लिया है॥

विदूषक— अरे जो देखने योग्य वस्तु थी वह आप ने देख ली है। तो अब दोपहर के सूर्य की गर्मी से मानों दुगनी हुई मेरी पेट की अग्नि प्रज्वलित हो रही है। अतः आओ हम चलें, ताकि

---

1. दोलायते=देला इव आचरति। च्वि प्रत्यय।
2. धम धम का शब्द करती है। धूँ धूँ कर रही है। अर्थात् अति प्रज्वलित हो रही है।

ता एहि णिक्कमम्ह जेण वह्मणो अदिही भविअ
तदेहि निष्कामाव: येन ब्राह्मणोऽतिथिर्भूत्वा
मुणिजणसआसादो लद्धेहिं
मुनिजनसकाशाल्लब्धैः
कन्दमूलफलेहि वि दाव पाणधारणं करिस्सं।
कन्दमूलफलैरपि तावत्प्राणधारणं करिष्ये।

नायक:—(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये! मध्यमध्यास्ते नभस्तलस्य भगवान्सहस्रदीधिति.। तथाहि —

तापात्तत्क्षणघृष्टचन्दनरसापाण्डू[1] कपोलौ वहन्
संसिक्तैर्निजकर्णतालपवनैः संवीज्यमाननः।
संप्रत्येष विशेषसिक्तहृदयो हस्तोज्झितैः शीकरैः
[2]गाढायल्लकदुःसहामिव दशां धत्ते गजानां पतिः ॥२१॥

तदेह्यावामपि गच्छाव:। (इति निष्क्रान्तौ)

[इति प्रथमोऽङ्कः]

श्लोक न०:२१, अन्वय:— तापात् तत्क्षणघृष्टचन्दनरसापाण्डू कपोलौ वहन्, संसक्तै: निजकर्णताल पवनै: संवीज्यमानानन:, हस्तोज्झितै: शीकरै: विशेषसिक्तहृदय:, एष गजानां पति: संप्रति गाढायल्लकदु:सहमिवदशां धत्ते ॥

मैं ब्राह्मण अतिथि बनकर मुनियों के पास से प्राप्त कन्द मूल फलों से (ही) अपने प्राण धारण करूँ।

नायक— (ऊपर देख कर) अरे, भगवन् सूर्य आकाश के मध्य (शिखर पर) पहुंच गए हैं। यत :—

गरमी के कारण, उसी समय (गण्डस्थल से) घिसे हुए चन्दन के रस से पीले कपोलों को धारण किए हुए, अच्छी तरह से भीगे हुए अपने विशाल कानों की हवा से अपने मुख पर पंखा करता हुआ, सूंड से फैंकी गई पानी को बूंदों से छाती को भली प्रकार सींचता हुआ यह हाथियों का राजा तीव्र उत्कण्ठा से उत्पन्न विरही की (दशा के समान) असह्य दशा को धारण कर रहा है।

अत: आओ, हम भी चलें। (दोनों का प्रस्थान)

प्रथम अङ्क समाप्त।

---

1. गण्डस्थल के साथ रगड़ने से घिसे हुए।
2. गाढं_तीव्रम्। आयल्लकम् = उत्कण्ठा। तेन दु:सहा, तामिव विरहिजनदशामिव दशाम् (अवस्थां) धत्ते (बिभर्ति, धारयति)।

द्वितीयोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति चेटी]

चेटी—आणत्तह्मि भट्टिदारिए मलअवदीए जहा—

आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकया मलयवत्या यथा —

'हञ्जे मणो हरिए ! अज्ज चिराअदि भाअरो मे

'हञ्जे मनोहरिके ! अद्य चिरायति भ्राता मे

अज्जोमित्तावसू। ता गदुअ जाणेहि दाव किं आअदो

आर्य्यो मित्रावसुः । तद् गत्वा जानीहि तावत् किमागतो

ण वेति ।

न वेति ।

(परिक्रामति) (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

का उण एसा तुरिदतुरिदं इदो एव्व आअच्छदि ?

का [1]पुनरेषा त्वरितत्वरितमित एव आगच्छति ?

(निरूप्य) कहं चदुरिआ ?

कथं चतुरिका ?

[ततः प्रविशति चतुरिका]

मनोहरिका-(उपसृत्य) हला चदुरिए ! किं णिमित्तं उण मं

हला चतुरिके ! किं निमित्तं पुनर्मां

परिहरिअ एव्वं तुरिददाए गच्छीअदि ?

परिहृत्य एवं त्वरितया गम्यते ?

चतुरिका-हला मणोहरिए ! आणत्तह्मि भट्टिदारिए मलअवदीए—

हला मनोहरिके ! आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकया मलयवत्या—

दूसरा अङ्कः।

[चेटी का प्रवेश]

चेटी— राजकुमारी मलयवती ने मुझे आज्ञा दी है कि 'सखी, मनोहरिके! आज मेरे भाई श्री मित्रावसु ने देर कर दी है। अत: जाकर पता लगा कि वह आ गए हैं कि नहीं। (घूमती है) (नेपथ्य की ओर देख कर) परन्तु यह कौन जल्दी जल्दी इधर ही आ रही है? (अच्छी तरह देख कर) क्या चतुरिका है?

[चतुरिका का प्रवेश]

मनोहरिका— (पास जाकर) अरी चतुरिके! क्या कारण है कि मुझे छोड़ कर जल्दी से चली जा रही हो।

चतुरिका—मनोहरिके! राजकुमारी मलयवती ने मुझे आज्ञा दी है कि—

---

1. यहां 'पुनः' 'परन्तु' के अर्थ में प्रयुक्त है।

हञ्जे चतुरिए ! कुसुमावचअ—परिस्समणिस्सहं मे सरीरं ।
हञ्जे चतुरिके ! कुसुमावचय—परिश्रमनिःसहं मे शरीरम् ।
सरदादवजणिदो विअ मे संदावो अधिअदरं बाधेदि ।
शरदातपजनित इव मे संतापो[1]ऽधिकतरं बाधते ।
ता गच्छ तुमं, बालकदलीपत्तपरिक्खिते चंदनलदाघरए
तद् गच्छ त्वं बालकदलीपत्रपरिक्षिप्ते चन्दनलतागृहे
चन्दमणिसिलाअलं सज्जीकरेहि 'त्ति । अणुच्चिट्ठिदं अ मए
चन्द्रमणिशिलातलं सज्जीकुरु' इति । अनुष्ठितञ्च मया
जधा आणत्तं । ता जाव गदुआ भट्टिदारिआए णिवेदेमि ।
यथाऽऽज्ञप्तम् । तद्यावद् गत्वा भर्तृदारिकायै निवेदयामि ।

मनोहरिका—जइ एव्वं ता लहुं गदुअ णिवेदेहि, जेण से
यद्येवं तल्लघु[2] गत्वा निवेदय येनास्या-
तहिं गदाए उवसमिदि संदावो ।
स्तत्र गताया उपशाम्यति संतापः ।

चतुरिका—(विहस्यात्मगतम्) ण ईरिसो से संदाओ जो
नेदृशोऽस्याः संतापो य
एव्वं उवसमिस्सदि । विवित्तरमणीअं चंदणलदाघरअं
एवमुपशमिष्यति । विविक्तरमणीयं चन्दनलतागृहं
पेक्खन्तीए अधिअदरो संदावो हुविस्सदि त्ति तक्केमि ।
प्रेक्षमाणाया अधिकतरः संतापो भविष्यतीति तर्कयामि ।
(प्रकाशम्) ता गच्छ तुमं ।
तद् गच्छ त्वम् ।

"सखि चतुरिके ! फूलों के चुनने के परिश्रम से मेरा शरीर बहुत थक गया है। शरद् ऋतु की धूप से मानों उत्पन्न हुई गरमी मुझे बहुत कष्ट दे रही है। अतः तू जा और कोमल केले के पत्तों से ढके हुए चन्दनलतागृह में चन्द्रमणि शिला के तल को तैयार कर।" और जैसी (उनकी) आज्ञा थी मैं ने कर दिया है। तो जाकर राजकुमारी को (इसकी) सूचना देती हूँ।

मनोहरिका— यदि ऐसा है तो जल्दी जाकर बता ताकि वहां जाकर उस का कष्ट शान्त हो।

चतुरिका— (हंस कर, मन ही मन) उसका सन्ताप ऐसा नहीं जो इस प्रकार शान्त हो जाएगा! मेरा तो विचार है कि एकान्त और रमणीय चन्दनलता गृह को देखने से इसका सन्ताप और भी बढ़ेगा।

(प्रकट) अच्छा तू जा।

---

1. गरमी, दुखः, कष्ट।
2. लघु = जल्दी, शीघ्र।

अहिम्प 'सज्जीकिदं मणिसिलाअलं' त्ति गदुअ
अहमपि 'सज्जीकृतं मणिशिलातलमिति गत्वा
भट्टिदारिआए णिवेदेमि। (इति निष्क्रान्ते)
भर्तृदारिकायै निवेदयामि।

[प्रवेशकः]

[ततः प्रविशति सोत्कण्ठा मलयवती चेटी च]

मलयवती— (निःश्वस्यात्मगतम्)
हिअअ! तथा णाम तदा तस्सिं जणे लज्जाए मं परंमुही—
हृदय! तथा नाम तदा तस्मिञ्जने लज्जया मां पराङ्मुखी—
कदुअ दाणिं अप्पणा तहिं एव्वं गदं सि त्ति अहो!
कृत्वेदानीमात्मना तत्रैव गतमसीत्यहो!
दे अत्तंभरित्तणं।
ते आत्मम्भरित्वम्।
(प्रकाशम्)
हञ्जे चदुरिए! आदेसेहि मे भअवदीए आअदणस्स मग्गं।
हञ्जे चतुरिके! आदिश मे भगवत्या आयतनस्य मार्गम्।
चेटी— (आत्मगतम्)
चंदणलदाघरअं पत्थिदा भणादि भअवदीए आअदणस्स मग्गं
चन्दनलतागृहं प्रस्थिता भणति 'भगवत्या आयतनस्य मार्गम्।
(प्रकाशम्) णं चंदणलदाघरअं भट्टिदारिआ पत्थिदा।
ननु चन्दनलतागृहं भर्तृदारिका प्रस्थिता।

मैं भी जाकर राजकुमारी को सूचना देती हूँ कि चन्द्रमणि शिलातल तैयार है।

(दोनों चली जाती हैं)

[प्रवेशक समाप्त]

[उत्कण्ठित मलयवती और चेटी का प्रवेश]

मलयवती— (गहरी सांस लेकर, मन ही मन) हे हृदय ! उस समय उस (प्रिय से) लज्जावश मुझे पराङ्मुख करके अब तू स्वयं वहीं (उसके पास) चला गया है। अहो, तेरी स्वार्थपरता ! (प्रकट) सखि चतुरिका ! भगवती (गौरी) के मन्दिर का मार्ग दिखा।

चेटी —(मन ही मन) चली तो थी चन्दनलतागृह को, पर कहती है 'देवी के मन्दिर का मार्ग'। (प्रकट) राजकुमारी, आप तो चन्दनलतागृह की ओर चली थीं।

नायिका— (सलज्जम्)

हञ्जे सुट्ठु सुमराविदं, ता एहि तहिं ज्जेव गच्छम्ह ।

हञ्जे ! सुष्ठु स्मारितम् । तदेहि तत्रैव गच्छावः ।

चेटी— एदु एदु भट्टिदारिआ । [अग्रतो गच्छति]

एतु एतु भर्तृदारिका ।

नायिका— (अन्यतो गच्छति)

चेटी— (पृष्ठतो दृष्ट्वा सोद्वेगमात्मगतम्)

अहो ! से सुण्णहिअअत्तणं ! कहं तं ज्जेव देवी भवणं

अहो ! अस्याः शून्यहृदयत्वम् ! कथं तदेव देवी भवनं

पत्थिदा । (प्रकाशम्) भट्टिदारिए ! णं इदो चंदणलदाघरअं ।

प्रस्थिता । भर्तृदारिके ! नन्वितश्चन्दनलतागृहम् ।

ता इदो एहि ।

तदित एहि ।

नायिका— ([1]सविलक्षस्मितं तथा करोति)

चेटी— भट्टिदारिए ! इदं चंदणलदाघरअं । ता पविसिअ

भर्तृदारिके ! इदं चन्दनलतागृहम् । तत्प्रविश्य

चंदमणिसिलादले उपविसिअ समस्ससदु भट्टिदारिआ ।

चन्द्रमणिशिलातले उपविश्य समाश्वसितु भर्तृदारिका ।

[उभे उपविशतः]

नायिका— (निःश्वस्य, आत्मगतम्)

भअवं कुसुमाउह ! जेण तुमं रूवसोहाए णिज्जिदोसि,

भगवन् कुसुमायुध[2] ! येन त्वं रूपशोभया निर्जितोऽसि ,

नायिका—(लज्जा के साथ) सखी, तू ने ख़ूब याद दिलाया। तो आ वहीं चलें।

चेटी— राजकुमारी जी, आइए। (आगे चलती है)

नायिका— (दूसरी दिशा में जाती हैं)

चेटी— (पीछे देख कर, दुःख के साथ, मन ही मन)–आह, इसकी बेसुधी ! क्या उसी देवी के मन्दिर को (ही) चल पड़ी है ? (प्रकट) राजकुमारी, चन्दनलतागृह तो इधर है। अतः, इधर आइए।

नायिका—(लज्जित हो कर, मुस्कराते, हुए, वैसा ही करती है)

चेटी— राजकुमारी ! यह चन्दनलतागृह है। इसमें प्रवेश करके, चन्द्रमणि शिलातल पर बैठकर, शान्त होइए।

(दोनों बैठ जाती हैं)

नायिका —(गहरी सांस लेकर, मन ही मन) भगवान् काम देव ! जिस (जीमूतवाहन) ने आपको अपने रूप की शोभा से जीत लिया

---

1. घबराहट, हैरानी अथवा लज्जा के साथ ।

2. कुसुमायुध– फूलों के शस्त्रों वाला। कामदेव के पांच बाण बताए हैं जो फूलों के हैं– अरविन्द, अशोक, चूत, नवमल्लिका और नीलोत्पल।

तस्स तुए ण किम्पि किदं। मम उण अणवरद्धाएवि
तस्य त्वया न किमपि कृतम्। मम पुनरनपराद्धाया अपि,
अवलेत्ति करिअ पहरंतो कहं ण लज्जेसि ?
अवलेति कृत्वा प्रहरन् कथं न लज्जसे ?
(आत्मानं निर्वर्ण्य, मदनावस्थां नाटयन्ती प्रकाशम्)
हञ्जे ! कीस उण घणपल्लवणिरुद्धसूरकिरणं तं एव्व
हञ्जे ! किं पुनर्घनपल्लवनिरुद्धसूर्य्यकिरणं तदेव
चंदणलदाघरअं ण मे अज्जवि संदावदुक्खं अवणेदि।
चन्दनलतागृहं न मे ऽद्यापि संतापदुःखमपनयति।
चेटी— जाणामि अहं एत्थ संदावस्स कारणं, किं
जानाम्यहमत्र संतापस्य कारणम्; किं
उणअसंभावणीअं ति भट्टिदारिआ ण तं पडिवज्जिसदि।
पुनरसम्भावनीयमिति भर्तृदारिका न [1]तत्प्रतिपत्स्यते।
नायिका— (आत्मगतम्)
लक्खिदा विअ अहं एदाए, तह वि पुच्छिस्सं। (प्रकाशम्)
लक्षितेवाहमेतया, तथापि पृच्छामि।
हञ्जे ! किं तं जं ण पडिवज्जिअदि। ता कहेहि दाव किं
हञ्जे ! किं तद्यन्न प्रतिपद्यते। तत्कथय तावत्किं
तं कारणं।
तत्कारणम्।
चेटी— एसो दे हिअअट्ठिदो वरो।
एष ते हृदयस्थितो वरः।

है, उसका तो आप ने कुछ भी नहीं बिगाड़ा। परन्तु मुझ निरपराध पर अबला जानकर प्रहार करते हुए क्या आप को शर्म नहीं आती? (अपने आप को देखकर, काम अवस्था का अभिनय करती हुई; प्रकट) सखी, घने पत्तों से सूर्य की किरणों को रोकने वाला (यह) वही चन्दनलतागृह आज मेरे गरमी के क्लेश को दूर क्यों नहीं करता?

चेटी— मैं इस सन्ताप का कारण जानती हूँ। परन्तु राजकुमारी आप तो उसे असम्भव कह कर विश्वास नहीं करेंगी।

नायिका—(मन ही मन) इसने मुझे भांप ही लिया है। फिर भी पूछती हूँ। (प्रकट) सखी, वह क्या है जिसे मैं स्वीकार नहीं करूंगी?[1] तो कह वह क्या कारण हैं?

चेटी— यह आप के हृदय में स्थित वर!

---

1. मानना, स्वीकार करना।

नायिका— (सहर्ष ससम्भ्रममुत्थाय द्वित्राणि पदानि गत्वा)

कहिं कहिं सो ?

कुत्र कुत्र सः ?

चेटी— (उत्थाय सस्मितं) भट्टिदारिए सो को ?

भर्तृदारिके स कः ?

नायिका— (सलज्जमुपविश्याधोमुखी तिष्ठति)

चेटी— भट्टिदारिए ! णं एदम्हि वत्तुकामा—'एसो दे

भर्तृदारिके ! नन्वेतदस्मि वक्तुकामा[1]—"एष ते

हिअअट्ठिदो वरो एव्व देईए दिण्णो सिविणके।

हृदयस्थितो वर एव देव्या दत्तः स्वप्ने।

पच्छ,वि क्खणं एव्व पविमुक्ककुसुमवाणो विअ

पश्चादपि क्षणमेव प्रविमुक्तकुसुमवाण इव

मअरद्धओ भट्टिदारिआए दिट्ठो । सो दे इमस्स

मकरध्वजो भर्तृदारिकया दृष्टः । स तेऽस्य

संदावस्य कारणं जेण एदं सहावसीदलंपि चंदण-

सन्तापस्य कारणं, येन एतत्स्वभावशीतलमपि चन्दन-

लदाघरअं ण दे संदावदुक्खं अवणेदि ।

लतागृहं न ते सन्तापदुःखमपनयति ।

नायिका- (चतुरिकाया अलकं सज्जयन्ती)

हञ्जे ! चदुरिआ क्खु तुमं, किं दे अवरं पच्छाईअदि ?

हञ्जे ! चतुरिका खलु त्वम्, किं तेऽपरं प्रच्छाद्यते ?

ता कहइस्सं ।

तत्कथयिष्यामि ।

नायिका- (हर्ष तथा घबराहट के साथ उठकर, दो तीन कदम चलकर)

कहाँ ? कहाँ है वह ?

चेटी— (उठकर, मुस्कराते हुए) राजकुमारी, वह कौन ?

नायिका—(लज्जित हो बैठ कर, मुहँ नीचे किए रहती है)

चेटी –राजकुमारी, मैं तो यह कहना चाहती हूँ कि यह आप के हृदय मैं स्थित वर देवी ने स्वप्न में दिया। पीछे उसे आपने क्षणभर के लिए फूलों के बाणों से रहित (साक्षात्) कामदेव के समान देखा। वही आपके इस सन्ताप का कारण है जिससे यह स्वभाव से (ही) शीतल चन्दनलतागृह भी आपके (इस) सन्ताप के कष्ट को दूर नहीं कर सकता।

नायिका- (चतुरिका के बाल सँवारती हुई) सखी ! तू सचमुच चतुर है। और तुझ से क्या छिपाना है ? सो कहती हूँ।

---

1. 'काम' तथा 'मनस्' आगे होने पर तुमुन् का अनुस्वार नहीं रहता।

चेटी—भट्टिदारिए ! दाणिं एव्व कहिदं इमिणा
भर्तृदारिके ! इदानीमेव कथितममुना
वरालावमत्तजणिदेण संभमेण। ता मा संतप्प।
वरालापमात्रजनितेन सम्भ्रमेण। तन्मा सन्तप्यस्व।
जइ अहं चदुरिआ, तदा सोवि भट्टिदारिअं अपेक्खंतो
यद्यहं चतुरिका, तदा सोऽपि भर्तृदारिकामपश्यन्
ण मुहुत्तअंपि अहिरमिस्सदि। एदम्पि मए
न मुहूर्तमप्यभिरंस्यते। एतदपि मया
लक्खिदं एव्व।
लक्षितमेव।

नायिका—(सास्रम्)
हञ्जे ! कुदो अह्माणं एत्तिआणि भाअधेआइं ?
हञ्जे ! कुतोऽस्माकमियन्ति भागधेयानि ?

चेटी—भट्टिदारिए ! मा एव्वं भण। किं मधुमहणो
भर्तृदारिके ! मैवं भण। किं मधुमथनो
वच्छत्थलेण लच्छिं अणुवहंतो णिव्वुदो भोदि ?
वक्षःस्थलेन लक्ष्मीमनुद्वहन् निर्वृत्तो[1] भवति ?

नायिका—किं सुअणो पिअं वज्जिअ अण्णं भणिदुं जाणादि ?
किं सुजनः प्रियं वर्जयित्वाऽन्यद्भणितुं जानाति ?
सहि ! अ दोवि मे संदावो अधिअदरं वाधेदि, जं सो
सखि ! अतोऽपि मे सन्तापोऽधिकतरं बाधते, यत्स

चेटी – राजकुमारी, अभी 'वर' शब्द के उच्चारण से ही उत्पन्न हुई इस घबराहट से (आपने सब कुछ) कह दिया है। अतः (और अधिक) सन्तप्त न हो। यदि मैं (सचमुच) चतुरिका हूँ तो वह भी आप को देखे बिना क्षण भर भी (कहीं) आनन्द नहीं ले सकेगा। यह भी मैंने देख लिया है।

नायिका– (आंसुओं के साथ) हमारे इतने भाग्य कहाँ ?

चेटी – राजकुमारी, ऐसा न कहो। क्या भगवान् विष्णु छाती पर लक्ष्मी को उठाए बिना सुखी हो सकते हैं ?

नायिका– क्या मित्रजन प्रिय बातों को छोड़ अन्य कुछ बोलना (भी) जानते हैं ? सखी, इसलिए भी मेरा सन्ताप और अधिक

---

1. निर्वृत्तः = सुखी, शान्त।

महाणुभाओ वाआमेत्तएण वि मए ण संभाविदो।
महानुभावो वाङ्मात्रेणापि मया न सम्भावित:।
सो वि अकिदपडिवत्तीं अदक्खिणोत्ति मं संभावइस्सदि।
सोऽप्यकृतप्रतिपत्तिमद[1]क्षिणेति मां सम्भावयिष्यति।
(इति रोदिति)

चेटी-- भट्टिदारिए! मा रोद। अहवा कहं ण रोइस्सदि?
भर्तृदारिके! मा रुदिहि। अथवा कथं न रोदिष्यति?
अहिओ से हिअअस्स संदावो अधिअदरं बाधेदि।
अधिकोऽस्या: हृदयस्य सन्तापोऽधिकतरं बाधते।
ता किं दाणिं एत्थ करइस्सं? ता जाव चंदणलदा-
तत्किमिदानीमत्र करिष्ये। तद्यावच्चन्दनलता-
पल्लवरसं से हिअए दाइस्सं।
पल्लवरसमस्या हृदये दास्ये।
(उत्थाय चन्दनपल्लवं गृहीत्वा निष्पीड्य हृदये ददाति)
भट्टिदारिए! णं भणामि, मा रोद। अअं क्खु
भर्तृदारिके! ननु भणामि, मा रुदिहि। अयं खलु
चदंणरसो इमेहिं अणवरद-पडंतेहिं बाहबिंदूहिं उह्णी-
चन्दनरस एभिरनवरत—पतद्भिर्बाष्पबिन्दुभिरुष्णी-
किदो ण दे हिअअस्स संदावदुक्खं अवणेदि।
कृतो न ते हृदयस्य सन्तापदु:खमपनयति।
(कदलीपत्रमादाय वीजयति)

नायिका —(हस्तेन निवारयन्ती) सहि! मा वीजेहि।
सखि! मा वीजय।

कष्टकर है क्योंकि मैंने उस महानुभाव का वाणीमात्र से भी सम्मान नहीं किया। वह भी सत्कार न करने वाली मुझे व्यवहार-ज्ञान-शून्य (ही) समझेंगे!

(यह कह कर रो पड़ती है)

चेटी — राजकुमारी! रोओ मत। अथवा कैसे न रोए। इसके हृदय का अधिक सन्ताप और अधिक कष्ट दे रहा है। तो अब क्या करूँ? अच्छा तब तक चन्दनलता के पत्तों का रस (ही) उसके हृदय पर लगाती हूं। (उठ कर चन्दन का पत्ता ले कर, उसे निचोड़ कर हृदय पर लगाती है)। राजकुमारी! मैं कहती हूँ रोओ मत। यह चन्दन का रस इन लगातार गिरने वाली आंसू की बूंदों से गर्म हुआ हुआ आप के मन के सन्ताप के दुःख को नहीं हटा सकता।

(केले का पत्ता लेकर पंखा करती है।)

नायिका — (हाथ से हटाते हुई) सखी, पंखा मत कर। यह केले के

---

1. चातुरीशून्य; व्यवाहार-ज्ञान-शून्य; धर्म-कार्य में मूढ़; भूर्ण; अल्हड़, फूहड़।

उण्हो क्खु एसो कअलीदलमारुदो ।

उष्णः खल्वेष कदलीदलमारुतः ।

चेटी- भट्टिदारिए ! मा इमस्स दोसं कहेहि ।

भर्तृदारिके ! माऽस्य दोषं कथय ।

कुणासि घणचन्दणलदापल्लवसंसग्गसीदलं पि इमं ।

करोषि घनचन्दनलतापल्लवसंसर्गशीतलमपीमम् ।

णीसासेहिं तुमं एव्व कअलीदलमारुअं उण्हं ॥१॥

निःश्वासैस्त्वमेव कदलीदलमारुतमुष्णम्

नायिका—(सास्रम्)

सहि ! अत्थि कोवि इमस्स संदावस्स उवसमोबाओ ?

सखि ! अस्ति कोऽप्यस्य सन्तापस्योपशमोपायः ?

चेटी- भट्टिदारिए ! अत्थि, जदि सो एत्थ आअच्छदि ।

भर्तृदारिके ! अस्ति यदि सोऽत्राऽऽगच्छति

[ततः प्रविशति नायको विदूषकश्च]

श्लोक नं० : १, अन्वयः—

घनचन्दनलतापल्लवसंसर्गशीतलम् अपि इमं

कदलीदलमारुतं त्वम् एव निःश्वासैः उष्णं करोषि ॥

पत्ते की हवा गरम है।

चेटी— राजकुमारी ! (तो) इस का दोष मत कहो—

घने चन्दन के पत्तों के सम्पर्क से शीतल इस केले के पत्ते की हवा को भी आप ही (अपनी) आहों से गरम कर रही हैं।

नायिका — (आंसुओं के साथ) सखी, क्या इस सन्ताप को शान्त करने का कोई भी उपाय है ?

चेटी— राजकुमारी, है तो, यदि "वह" यहां आ जाए।

[नायक तथा विदूषक का प्रवेश]

नायकः— व्यावृत्यैव सितासितेक्षणरुचा तानाश्रमे शाखिनः
कुर्वत्या विटपावसक्तविलसत्कृष्णाजिनौघानिव[1][2][3] ।
यद्दृष्टोऽस्मि तया मुनेरपि पुरस्तेनैव मय्याहते
[4]पुष्पेषो! भवता मुधैव किमिति क्षिप्यन्त एते शराः ? ॥२॥

विदूषकः— भो वअस्स! कहिं क्खु गदं दे तं धीरत्तणं ?
भो वयस्य! कुत्र खलु गतं ते तद्धीरत्वम् ?

नायकः— वयस्य! ननु धीर एवास्मि। कुतः ?—
नीताः किं न निशाः शशाङ्कधवला नाघ्रातमिन्दीवरं ?
किं नोन्मीलितमालतीसुरभयः सोढाः प्रदोषानिलाः ?
झङ्कारः कमलाकरे मधुलिहां किं वा मया न श्रुतो,
निर्व्याजं विधुरेष्वधीर इति मां येनाभिधत्से भवान् ? ॥३॥

श्लोक नं॰ २: अन्वयः—

सितासितेक्षणरुचा आश्रमे तान् शाखिनः विटपावसक्त-
विलसत्कृष्णाजिनौघान इव कुर्वत्या तया मुनेरपि
पुरा यद् व्यावृत्य एव दृष्टोऽस्मि, तेन एव आहते मयि
पुष्पेषो! भवता मुधा एव एते शराः किमिति क्षिप्यन्ते ॥

श्लोक नं॰ ३, अन्वयः—

किं शशाङ्कधवला निशाः न नीताः ? (किम्) इन्दीवरं न आघ्रातम् ?
किम् उन्मीलितमालतीसुरभयः प्रदोषानिलाः न सोढाः ?
किं वा मया कमलाकरे मधुलिहां झङ्कारः न श्रुतः ?
येन भवान् निर्व्याजं मां विधुरेषु अधीरः इति अभिधत्से ॥

नायक: — आंखों की सफ़ेद तथा काली कान्ति से आश्रम में (स्थित) उन वृक्षों को मानों शाखाओं के लटकते हुए शोभायमान कृष्णमृग के चर्म समूह से युक्त करती हुई उस (मलयवती) ने मुनि के सामने ही जो मुझे घूम कर देखा था, उसी से ही घायल हुए मुझ पर, हे कामदेव ! आप व्यर्थ ही यह तीर क्यों फैंक रहे हैं ?

विदूषक.— अरे मित्र ! तेरी वह धीरता कहाँ गई ?

नायक— मित्र ! मैं तो सचमुच धीर ही हूं, क्योंकि—

क्या चान्द (की चान्दनी) से उजली रातें मै ने नहीं बिताईं ? क्या (नील) कमल फूलों को नहीं सूंघा ? क्या खिले हुये मालती फूलों से सुगन्धित सायंकाल की हवा को सहन नहीं किया ? क्या मैं ने कमल-समूह में भौरों का गुञ्जार नहीं सुना ?. जिससे आप विना कारण ही मुझे विरह की घड़ियों में अधीर कहते हो।

---

1. शाखाएँ 2. फैला हुआ; लगा हुआ; लटकता हुआ।
3. ओघ: = समूह।
4. फूलों के तीरों वाला। (फूलों के नाम पहिले दे चुके हैं)

(विचिन्त्य)

अथवाऽरूपा नाऽस्मिहितं, वयस्यात्रेय ! नन्वधीर एवाऽस्मि ।—
स्त्रीहृदयेन न सोढाः क्षिप्ताः कुसुमेषवोऽप्यनङ्गेन[1] ।
येनाद्यैव पुरस्तव वदामि 'धीर' इति स कथमहम् ॥४॥

विदूषकः — (आत्मगतम्)

एव्वमधीरत्तणं पडिवज्जंतेण आचक्खिदो महन्तो अणेण
एवमधीरत्वं प्रतिपद्यमानेनाऽऽख्यातो महानेन

हिअअस्स आवेगो। ता जाव कहिं एव्व एदं अवक्खिवामि।
हृदयस्यावेगः[3] । तद्यावत्कुत्रैवैनमपक्षिपामि ।

(प्रकाशम्)

भो वअस्स ! कीस उण अज्ज तुमं लहु एव्व गुरुअणं
भो वयस्य ! कथं पुनरद्य त्वं [4]लघ्वेव गुरुजनं

सुस्सूसिअ इह आगदो ?
शुश्रूषयित्वेहाऽऽगतः ?

नायकः— वयस्य ! स्थाने खल्वेष प्रश्नः। कस्य वा-
ऽन्यस्यैतत्कथनीयम् ? अद्य खलु स्वप्ने जानामि—
सैव प्रियतमा (अङ्गुल्या निर्दिशन्) अत्र चन्दनलतागृहे

श्लोक नं० ४, अन्वयः—

स्त्रीहृदयेन येन (मया) अनङ्गेन क्षिप्ताः कुसुमेषवः अपि न सोढाः
सः अहम् अद्य एव कथं तव पुरः धीरः इति वदामि ॥

(सोचकर) अथवा, तुम ने झूठ नहीं कहा। मित्र, आत्रेय !

मैं सचमुच अधीर (कायर) हूँ—

स्त्रियों के समान (भीरु) हृदय वाले जिस से कामदेव के द्वारा फैंके गए फूलों के बाण भी नहीं सहे गए, ऐसा मैं अब तेरे सामने कैसे कह सकता हूं कि मैं धीर हूं ?

विदूषक:— (मन ही मन) इस प्रकार अधीरता स्वीकार करते हुए इस ने हृदय के महान् आवेग को कह डाला है। अत: किसी और तरफ़ इस का ध्यान लगाता हूँ। (प्रकट) मित्र, आज गुरुजनों की सेवा करके आप इतनी जल्दी कैसे यहां आ गए ?

नायक— मित्र, यह प्रश्न सचमुच उचित है। (तुम्हें छोड़कर) यह बात और किस से कहूँगा ? आज मैं ने स्वप्न में देखा कि वही प्रियतमा (अंगुली से इशारा कर के) यहां चन्दनलता गृह में

---

1. अङ्गों अथवा शरीर से रहित, कामदेव।
2. मानना, स्वीकार करना।
3. घबराहट, हलचल।
4. लघु = शीघ्र, जल्दी।

चन्द्रकान्तमणिशिलायामुपविष्टा प्रणयकुपिता किमपि मामुपालभमानेव रुदती मया दृष्टा। तदिच्छामि स्वप्नानुभूतदयितासमागमरम्येऽस्मिश्चन्दनलतागृहे दिवसशेषमतिवाहयितुम्। तदेहि गच्छाव:।

[परिक्रामत:]

चेटी— (कर्णं दत्वा ससम्भ्रमम्)

भट्टिदारिए! पदसद्दो विअ सुणीअदि।

भर्तृदारिके! पदशब्द इव श्रूयते।

नायिका—(ससम्भ्रममात्मानं पश्यन्ती) हञ्जे! मा ईरिसं आआरं

हञ्जे! मेदृशमाकारं

पेक्खिअ कोवि मे हिअअं तुलीअदु। ता उट्ठेहि, इमिणा

प्रेक्ष्य कोऽपि मे हृदयं तुलयतु[1]। तदुत्तिष्ठ, अनेन

रत्तासोअपादवेण अंतरिदा पेक्खम्ह दाव को एसो त्ति।

रक्ताशोकपादपेनान्तरिते प्रेक्षावहे तावत् 'क एष' इति।

[तथा कुरुत:]

विदूषक:— एदं चंदणलदाघरअं। ता एहि पविसम्ह।

इदं चन्दनलतागृहम्। तदेहि प्रविशाव:।

[नाट्येन प्रविशत:]

नायक:- चन्दनलतागृहमिदं सचन्द्रमणिशिलमपि प्रियं न मम

चंद्राननया रहितं चंद्रिकया [2]मुखमिव निशाया: ॥५॥

श्लोक नं० ५, अन्वय:—

चन्द्राननया रहितं सचन्द्रमणिशिलमपि इदं चन्दनलतागृहं चन्द्रिकया (रहितं) निशाया: मुखमिव मम प्रियं न॥

चन्द्रकान्तमणि की शिला पर बैठी हुई, प्रेम से क्रुद्ध हुई, मुझे कुछ उलाहना सा देती हुई रो रही है। अतः मैं चाहता हूं कि स्वप्न में अनुभव किए गए प्रिया के मिलाप से रमणीय इस चन्दनलतागृह में बाकी का दिन बिताऊँ। अतः आओ चलें।

[घूमते हैं]

चेटी— (कान लगा कर, घबराहट से) राजकुमारी, पैरों की आहट सी सुनाई दे रही है।

नायिका— (घबराहट से अपनी ओर देखती हुई) सखी, मेरे इस आकार को देखकर कहीं कोई मेरे हृदय पर शक न करे; अतः उठ, इस लाल अशोक वृक्ष के पीछे छिप कर देखें कि यह कौन है। [वैसा ही करती हैं]

विदूषक—यह चन्दनलतागृह है। तो आओ भीतर चलें।

[दोनों प्रवेश करने का अभिनय करते हैं]

नायक– उस चन्द्रमुखी से रहित, चन्द्रमणि शिला से युक्त भी, यह चन्दनलतागृह, चान्दनी से रहित रात्रि के अग्रभाग (सन्ध्या समय) के समान, मुझे प्रिय नहीं।

---

1. शङ्का करनी।
2. मुखम् = आरम्भ।

चेटी—(दृष्ट्वा) भट्टिदारिए ! दिट्ठिआ वड्ढसि । सो एव्व
भर्तृदारिके ! दिष्ट्या वर्धसे । स एव
णं दे हिअअवल्लहो जणो ।
ननु ते हृदयवल्लभो जनः ।

नायिका—[दृष्ट्वा सहर्षंससाध्वसञ्च] हञ्जे ! एदं
हञ्जे ! एनं
पेक्खिअ अदिसद्धसेण ण सक्कुणोमि इह एव्व असणे
प्रेक्ष्यातिसाध्वसेन न शक्नोमीहैवासने
चिट्ठिदुं, कदावि एसो मं पेक्खदि । ता एहि अण्णादो
स्थातुं, कदापि एष मां प्रेक्षते । तदेह्यन्यतो
गच्छम्ह । (सोत्कण्ठं पदं दत्वा) हञ्जे ! वेवंति मे ऊरुओ ।
गच्छावः । हञ्जे ! वेपेते मे ऊरू ।

चेटी— (विहस्य) अइ काअरे ! इह ठ्ठिदं तुमं को पेक्खदि ?
अयि कातरे ! इह स्थितां त्वां कः प्रेक्षते ?
णं विसुमरिदो दे अअं रत्तासोअपादवो, ता इध एव्व
ननु विस्मृतस्तेऽयं रक्ताशोकपादपः ? तदिहै-
उवविसिअ चिट्ठम्ह ।
वोपविश्य तिष्ठावः । [तथा कुरुतः]

विदूषकः—(निरूप्य) भो वअस्स ! एसा सा चन्दमणिसिला
भो वयस्य ! एषा सा चन्द्रमणिशिला ।

नायकः— (सवाष्पं निःश्वसिति)

चेटी—(देख कर) राजकुमारी ! प्रसन्नता की बात है; बधाई हो। यह तो वही आपके हृदयवल्लभ (प्राणप्रिय) हैं ।

नायिका- (देख कर हर्ष तथा घबराहट से साथ) सखी, इसे देखकर घबराहट के कारण मैं इस जगह नहीं ठहर सकती। कहीं यह मुझे देख ले ! तो आओ कहीं और चलती हैं। (उत्कण्ठा के साथ पैर रखकर) सखी, मेरी तो जंघाएं कांप रही हैं ।

चेटी- (हँसकर) अरी भीरु ! यहां ठहरी तुझे कौन देखता है ? क्या आप सचमुच भूल गईं कि यह लाल अशोक का वृक्ष है ? अतः यहीं बैठकर (इसी जगह) ठहरती हैं ।

[वैसा ही करती है]

विदूषक—(अच्छी तरह देखकर) हे मित्र, यही वह चन्द्रमणिशिला है ।

नायिका- (आँसुओं के साथ, गहरी साँस लेता है)

भट्टिदारिए ! जाणामि सिविणआलाओ विअ,

भर्तृदारिके ! जानामि स्वप्नालाप इव,

ता अवहिदा दाव सुणम्ह ।

तदवहिते तावत् शृणुवः । [उभे आकर्णयन्तः]

विदूषकः— (हस्तेन चालयन्)

भो वअस्स ! णं भणामि, एसा सा चंदमणिसिलेत्ति ।

भो वयस्य ! ननु भणामि, एषा सा चन्द्रमणिशिलेति ।

नायकः— (सवाष्पं निःश्वस्य) सम्यगुपलक्षितम् । (हस्तेन निर्दिश्य)

शशिमणिशिला सेयं यस्यां विपाण्डुरमाननं

करकिसलये कृत्वा वामे घनश्वसितोद्गमा ।

चिरयति[1] मयि व्यक्ताकूता[2] [3]मनाक्स्फुरितैर्भ्रुवो-

र्निरमितमनोमन्युर्दृष्टा मया रुदती प्रिया ॥६॥

ततस्त्वस्यामेव चन्द्रमणिशिलायामुपविशावः ।

[उभावुपविशतः]

नायिका. (विचिन्त्य) का उण एसा हुविस्सदि !

का पुनरेषा भविष्यति ?

चेटी— भट्टिदारिए ! जधा अम्हे ओवारिदा दाव एदं पेक्खम्ह,

भर्तृदारिके ! यथावामपवारिते तावदेनं प्रेक्षावहे,

श्लोक नं० ६, अन्वयः—

इयं सा शशिमणिशिला यस्यां वामे करकिसलये विपाण्डुरम् आननं कृत्वा, घनश्वसितोद्गमा, मयि चिरायति भ्रुवो मनाक् स्फुरितैः व्यक्ताकूता, निरमितमनोन्युः रुदती प्रिया मया दृष्टा ॥

चेटी – राजकुमारी ! मुझे लगता है मानों कोई स्वप्न की बातचीत हो रही है। तो हम सावधान हो कर सुनें।

[दोनों सुनती हैं]

विदूषक– (हाथ से हिलाते हुए) अरे मित्र, मैं कहता हूँ यह है वही चन्द्रमणिशिला।

नायक—(आँसुओं के साथ, गहरी साँस ले कर) ठीक देखा है। (हाथ से इशारा करके)— यह वही चन्द्रमणिशिला है जहाँ पल्लव के समान कोमल बाएँ हाथ पर (अपने) पीले मुख को रखकर गहरी आहें भरती हुई, मेरे देर करने पर भौहों के थोड़ा फड़कने से जिसके (मन) का (प्रणय कोप रूपी) अभिप्राय स्पष्ट था, परन्तु मनोगत क्रोध को रोक कर रोती हुई प्रिया को मैंने देखा था।

तब तो इसी चन्द्रमणिशिला पर बैठें। (दोनों बैठते हैं)

नायिका—(सोचकर) यह कौन होगी ?

चेटी—राजकुमारी, जैसे हम छिप कर उसे देख रही हैं, कहीं तू ही इस

1. सति सप्तमी।
2. आकूत = भाव, अभिप्राय।
3. मनाक् = थोड़ा; धीरे से

मा णाम तुमम्पि एव्वं दिट्ठा ।

मा नाम त्वमप्येवं दृष्टा ।

नायिका— जुज्जदि एदं । किं उण पणअकुविदं पिअअणं

युज्यते एतत् । किं पुनः प्रणयकुपितं प्रियजनं

हिअए करिअ मंतेदि ।

हृदये कृत्वा मन्त्रयति ।

चेटी — भट्टिदारिए ! मा ईरिसं सङ्कं करेहि । पुणोवि

भर्तृदारिके ! मा ईदृशां शङ्कां कुरुष्व । पुनुरपि

दाव सुणम्ह ।

तावच्छृणुवः ।

विदूषकः —(आत्मगतम्)

अहिरमदि एसो एदाए कधाए, भोदु एदं जेव्व वड्ढाइस्सं ।

अभिरमते एष एतया कथाया, भवतु एतामेव वर्धयिष्यामि ।

(प्रकाशम्) भो वअस्स ! तदा सा तुए रुदती किं भणिदा ?

भो वयस्य ! तदा सा त्वया रुदती किं भणिता ?

नायकः— वयस्य ! इदमुक्ता —

निष्यन्दत इवाऽनेन मुखचन्द्रोदयेन ते ।

एतद् वाष्पाम्बुना सिक्तं चन्द्रकान्तशिलातलम् ॥७॥

नायिका-(सरोषम्) चतुरिए ! अत्थि किं अदो वि अवरं सोदव्वं ?

चतुरिके ! अस्ति [1]किमतोऽप्यपरं श्रोतव्यम् ?

श्लोक न० ७, अन्वयः—(तव) वाष्पाम्बुना सिक्तम् एतत् चन्द्रकान्त-शिलातलम अनेन ते मुखचन्द्रोदयेन निष्यन्दते इव ॥

तरह न देखी गई हो !

नायिका — यह ठीक है। फिर यह किस प्रणय-कुपित प्रियजन को मन में रख कर इस तरह बातें कर रहे हैं ?

चेटी — राजकुमारी ! ऐसी शङ्का मत करो। अच्छा तो फिर (और) सुनती हैं।

विदूषक — (मन ही मन) यह इस प्रसङ्ग से प्रसन्न है। अच्छा, इसे ही (आगे) बढ़ाता हूँ। (प्रकट) हे मित्र, तब आप ने उस रोती हुई (अपनी प्रिया) को क्या कहा ?

नायिक — मित्र, यह कहा कि—

(तुम्हारे) आंसुओं के जल से गीला हुआ हुआ यह चन्द्रमणि-शिलातल तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रमा के उदय होने से मानों (पिघल कर) चूने लग पड़ा है।

नायिका—(क्रोध से) चतुरिका ! क्या इस से भी अधिक कुछ और सुनना बाकी है ?

---

1. किम् + अतः + अपि + अपरम्।

(सास्रम्) ता एहि गच्छम्ह ।

तदेहि, गच्छावः ।

चेटी–(हस्ते गृहीत्वा)

भट्टिदारिए ! एव्वं मा भण, तुमं एव्व सिविणए दिट्ठा,

भर्तृदारिके ! एवं मा भण, त्वमेव स्वप्ने दृष्टा,

ण एदस्स अण्णस्सिं दिट्ठी अहिरमदि ।

नैतस्यान्यस्यां दृष्टिरभिरमति ।

नायका— ण मे हिअअं पतिआअदि, ता कहावसाणं

न मे हृदयं प्रत्येति, तत्कथावसानं

जाव पडिवालेम्ह ।

यावत्प्रतिपालयावः[1] ।

नायक:- वयस्य ! जाने तामेवास्यां शिलायामालिख्य[2] तया चित्रगतयात्मानं विनोदयामीति । तदित एव गिरितटान्मनः शिलाशकलान्यादाय गच्छ ।

विदूषक:—जं भवं आणवेदि । (परिक्रम्य, गृहीत्वोपसृत्य)

यद्भवानाज्ञापयति ।

भो वअस्स, तुए एक्को वण्णओ आणत्तो । मए उण इध

भो वयस्य, त्वयैको वर्णक आज्ञप्तः । मया [3]पुनरिह

सुलहा पञ्चवण्णआ आणीदा । ता आलिहदु भवं ।

सुलभाः पञ्चवर्णका आनीताः । तदालिखतु भवान् ।

[[4]उपनयति]

(आँसुओं के साथ) अतः आओ चलें।

चेटी— (हाथ से पकड़ कर) राजकुमारी ! ऐसा मत कहो। तुम्हीं स्वप्न में देखी गई हो। इस की दृष्टि (तुम्हें छोड़) किसी और में आसक्त नहीं है।

नायिका— मेरे मन को विश्वास तो नहीं होता। (फिर भी) अच्छा इस प्रसङ्ग की समाप्ति तक प्रतीक्षा करती हैं।

नायक— मित्र ! मेरा विचार है कि उसी (प्रिया) की तसवीर इस शिला पर बनाकर मैं उसके चित्र से ही अपने मन को बहलाऊँ। अतः इसी पर्वतपार्श्व से लाल गैरकादि धातु के टुकड़े ले आओ।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा। (घूमकर, लेकर, पास आकर) हे मित्र, आप ने तो (केवल) एक ही रंग की आज्ञा दी थी, परन्तु मैं यहां आसानी से प्राप्त होने वाले पांच रंग (के पत्थर) लाया हूं। सो आप चित्र बनाएँ। [देता है।]

1. प्रतीक्षा करती हैं।
2. आ + लिख् + ल्यप्।
3. यहां 'पुनः' का प्रयोग 'परन्तु' के अर्थ में है।
4. उप + नी = पास ले जाना, भेंट करना, देना।

नायकः - वयस्य ! साधु कृतम् (गृहीत्वा शिलायामालिखन् सरोमाञ्चम्) - सखे ! पश्य —

[1]अक्लिष्टबिम्बशोभाधरस्य नयनोत्सवस्य[2] शशिन इव ।
दयितामुखस्य सुखयति रेखाऽपि [3]प्रथमदृष्टेयम् ॥ ८ ॥

[आलिखति]

विदूषकः—(सकौतुकं निर्वर्ण्य) भो वअस्स ! अपच्चक्खे वि
भो मयस्य ! अप्रत्यक्षेऽपि
णाम रूअं लिहिअदि । अहो अच्छरिअं !
नाम रूपं लिख्यते । अहो आश्चर्यम् !

नायकः— (सस्मितम्) वयस्य !

प्रिया सन्निहितैवेयं सङ्कल्पस्थापिता पुरः ।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखाम्येनां यदि तत्कोऽत्र विस्मयः ॥९॥

नायिका—(सास्रम्) चदुरिए ! जाणिदं क्खु कहावसाणं । ता एहि,
चतुरिके ! ज्ञातं खलु कथावसानम् । तदेहि ,
मित्तावसुं पेक्खह्म ।
मित्रावसुं प्रेक्षावहे ।

श्लोक नं० ८, अन्वयः—

अक्लिष्टबिम्बशोभाऽधरस्य नयनोत्सवस्य शशिनः प्रथमदृष्टा (रेखा) इव दयितामुखस्य इयं रेखाऽपि (मां) सुखयति ।

श्लोक नं० ९, अन्वयः—

सङ्कल्पस्थापिता इयं प्रिया पुरः सन्निहिता इव ।
यदि एनां दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखामि, तत् अत्र को विस्मयः ?

नायक—मित्र ठीक किया है (लेकर, शिला पर चित्र खींचते हुए, रोमाञ्चित होकर) मित्र, देखो—

मेघादि से अनावृत्त मुख की शोभा को धारण करने वाले तथा नेत्रों को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा को पहिली बार देखी गई रेखा के समान, पके हुए बिम्बफल की तरह शोभायमान अधरोष्ठ वाले तथा नयनों को आनन्दित करने वाले प्रियतमा के मुख की रेखा भी (चित्र में) पहिली बार देखी गई (मुझे) सुख देती है। [चित्र बनाता है]

विदूषक—(उत्सुकता के साथ देखकर) हे मित्र, (प्रिया का) रूप सामने न होने पर भी (उसका) (इतना पूर्ण तथा सुन्दर) चित्र बनाया जा रहा है ? आह, बड़े आश्चर्य की बात है !

नायक—(मुस्कराते हुए) मित्र, मेरे सङ्कल्पों में सामने ठहरी हुई वह प्रिया मानों समीप ही है। यदि उसे देख देख कर मैं (उसका) चित्र बना रहा हूँ तो इसमें कौनसी आश्चर्य की बात है ?

नायिका—(आंसुओं के साथ) चतुरिके ! प्रसङ्ग का अन्त जान लिया ! तो आओ, मित्रावसु को देखें।

---

1. इसके दो अर्थ हैं। चन्द्रमा के साथ—चन्द्रबिम्ब के मेघादि से आच्छादित न होने के कारण शोभा धारण करने वाला। दयितामुख के साथ—पके हुए बिम्बफल के समान शोभायमान अधरोष्ठ वाले।

2. तथा 3. भी दोनों तरफ लगते हैं।

चेटी–(सविषादमात्मगतम्) कहं जीविदणिरवेक्खो विअ से आलावो ।

कथं जीवितनिरपेक्ष[1] इवास्या आलापः ।

(प्रकाशम्)

भट्टिदारिए ! णं गदा एव्व तहिं मणोहरिआ; ता कदावि

भर्तृदारिके ! ननु गतैव तत्र मनोहरिका ; तत्कदापि

भट्टा मित्तावसू इध एव्व आअच्छदि

भर्ता मित्रावसुरिहैवागच्छति ।

[ततः प्रविशति मित्रावसुः]

मित्रावसुः– आज्ञापितोऽस्मि तातेन, यथा–'वत्स मित्रावसो !

कुमारजीमूतवाहनोऽस्माभिरिहासन्नवासात्सुपरीक्षितः ।

कुतोऽस्माद्योग्यो वरः ? तदस्मै वत्सा मलयवती

प्रतिपाद्यताम्[2]' इति । अहन्तु स्नेहपराधीनतयाऽन्य-

देव किमप्यवस्थान्तरमनुभवामि । कुतः ?

यद्विद्याधरराजवंशतिलकः[3] प्राज्ञः सतां सम्मतो

रूपेणाप्रतिमः पराक्रमधरो विद्वान् विनीतो युवा ।

यच्चासूनपि संत्यजेत्करुणया सत्त्वार्थमभ्युद्यत[4]—

स्तेनास्मै ददतः स्वसारमतुला[5] तुष्टिर्विषादश्च मे ॥१०॥

श्लोक न०: १० अन्वयः–

अस्मै स्वसारं ददतः मे, यत् विद्याधरराजवंश तिलकः, प्राज्ञः, सतां सम्मतः रूपेण अप्रतिमः, पराक्रमधरः, विद्वान् युवा– तेन अतुला तुष्टिः ; यत् च करुणया सत्त्वार्थम् अभ्युद्यतः असून्अपि सन्त्यजेत्, (तेन) विषादश्च ॥

चेटी—(दुःख के साथ, मन ही मन) इस की (यह) वात मानों जीवन से कितनी अपेक्षा-रहित (अनादर-युक्त है)¹। (प्रकट) राजकुमारी, वहां तो मनोहरिका गई है। तो शायद राजकुमारी मित्रावसु यहीं आते हों।

[मित्रावसु का प्रवेश]

मित्रावसु— पिता जी ने मुझे आज्ञा दी है कि "पुत्र, मित्रावसु, कुमार जीमूतवाहन को हमने यहां समीप रहने के कारण अच्छी तरह देख भाल लिया है। इस से बढ़कर योग्य वर कहां (मिलेगा) ? अत: इस के साथ प्यारी मलयवती का विवाह कर देन चाहिए। मैं तो स्नेह के वश में होने के कारण किसी और ही अवस्था का अनुभव कर रहा हूँ। क्योंकि—

इस (जीमूतवाहन) को अपनी बहिन देते हुए मुझे इस विचार से कि यह विद्याधरों के राजवंश का आभूषण है, बुद्धिमान्, सज्जनों में सम्मानित, रूप में अद्वितीय, पराक्रमी, विद्वान्, नम्र स्वभाव वाला युवक है— अत्यन्त हर्ष हो रहा है; परन्तु दया से जीवों के उपकार के लिए उद्यत वह अपने प्राणों को भी छोड़ सकता है, इस विचार से (मुझे) दुःख भी है।

1. जीवन से अपेक्षारहित, उपेक्षायुक्त; अर्थात् जीवन की परवाह नहीं करती; अथवा जीना ही नहीं चाहती। मानों आत्महत्या करना चाहती हो।
2. दी जानी चाहिए। (विवाह में)। अर्थात् उसका विवाह कर देना चाहिए।
3. शिरोमणि, श्रेष्ठ, आभूषण। 4. उद्यत, तैयार।
5. अद्वितीय, अपूर्व, बहुत, अत्यन्त। यदि पाठ "अतुलां" हो तो वह "स्वसारं" का विशेषण होगा।

श्रुतञ्च मया—'असौ जीमूतवाहनोऽत्रैव गौर्य्याश्रमसम्बद्धे चन्दनलतागृहे वर्तते' इति। तदेतच्चन्दनलतागृहम्। यावत्प्रविशामि। [प्रविशति]

विदूषकः— (ससम्भ्रममवलोक्य) भो वअस्स! पच्छादेहि
भो वयस्य! प्रच्छादया-
इमिणा कअलीवत्तेण इमं चित्तगदं कण्णअं। एसो क्खु
ऽनेन कदलीपत्रेणेमां चित्रगतां कन्यकाम्। एष खलु
सिद्धजुवराओ मित्तावसू इध इव आअदो। कदावि (एसो)
सिद्धयुवराजो मित्रावसुरिहैवागतः। कदापि[1] (एष)
पेक्खिस्सदि।
प्रेक्षिष्यते।

नायकः— (कदलीपत्रेण प्रच्छादयति)

मित्रावसुः—(उपसृत्य) कुमार! मित्रावसुः प्रणमति।

नायकः—(दृष्ट्वा) मित्रावसो! स्वागतम्। इहोपविश्यताम्।

चेटी—भट्टिदारिए! आअदो भट्टा मित्तावसू।
भर्तृदारिके! आगतो भर्त्ता मित्रावसु।

नायिका— हञ्जे! पिअं मे।
हञ्जे! प्रियं मे।

नायकः— मित्रावसो! अपि कुशली सिद्धराजो विश्वावसुः?

मित्रावसुः—कुशली तातः। तदादेशेनैवास्मि त्वत्सकाशमागतः।

नायकः— किमाह तत्रभवान्?

और मैं ने सुना है कि वह जीमूतवाहन यहीं गौरी के मन्दिर के साथ लगे हुए चन्दनलतागृह में है। वह चन्दनलतागृह यही है। तो (इसमें) प्रवेश करता हूं। [भीतर जाता है]

विदूषक— (घबराहट के साथ देखकर) —हे मित्र ! उस कन्या के इस चित्र को इस केले के पत्ते से ढक दो। (क्योंकि) यह सिद्धों का युवराज मित्रावसु इधर ही आ पहुंचा है। शायद (यह) देख लेगा।

नायक— (केले के पत्ते से ढक देता है)

मित्रावसु— (समीप जाकर) कुमार ! मित्रावसु (आपको) प्रणाम करता है।

नायक—(देखकर) मित्रावसु ! तुम्हारा स्वागत है। (आओ) यहां बैठो।

चेटी— राजकुमारी ! स्वामी मित्रावसु आगए।

नायिका— सखी, मुझे खुशी है।

नायक— मित्रावसु ! क्या सिद्धराज विश्वावसु सकुशल हैं ?

मित्रावसु— (जी हां) पिता जी कुशलपूर्वक हैं। उन्हीं की आज्ञा से मैं आप के पास आया हूँ।

नायक— श्रीमान् ने क्या कहा है ?

---

1. कभी, कहीं, शायद।

नायिका-- सुणिस्सं दाव, किं तादेण संदिट्ठं त्ति।
श्रोष्यामि तावत्, किं तातेन सन्दिष्टमिति।

मित्रावसुः--इदमाह तातः--अस्ति मे मलयवती नाम कन्या जीवितमिवास्य सर्वस्यैव सिद्धराजान्वयस्य। सा मया तुभ्यं प्रतिपाद्यते। प्रतिगृह्यताम्'' इति।

चेटी- (विहस्य)- भट्टिदारिए! किं ण कुप्पसि दाणीं?
भर्तृदारिके ! किं न कुप्यसीदानीम् ?

नायिका — (सस्मितं सलज्जं चाधोमुखी स्थित्वा) हञ्जे!
हञ्जे !
मा हस। किं विसुमरिदं दे एदस्स अण्णहिअअत्तणं?
मा हस। किं विस्मृतं त एतस्यान्यहृदयत्वम् ?

नायकः--(अपवार्य) वयस्य सङ्कटे पतिताः स्मः।

विदूषकः-- (अपवार्य) भो वअस्स! जाणामि ण तं वज्जिअ
भो वयस्य ! जानामि न तां वर्जयित्वा-
अण्णहिं चित्तं दे अहिरमदि, ता जधा तधा जं किम्पि
ऽन्यत्र, चित्तं तेऽभिरमते। तद्यथा तथा यत्किमपि
भणिअ विसज्जीअदु एसो।
भणित्वा विसृज्यतामेषः।

नायिका—(सरोषमात्मगतम्) हदास! को वा एदं न जाणादि?
हताश[1]! को वैतन्न जानाति ?

नायिका— मैं भी सुनना चाहती हूँ कि पिता जी ने क्या सन्देश भेजा है।

मित्रावसु— पिता जी ने यह कहा है कि "मलयवती नाम की मेरी कन्या है जो सम्पूर्ण सिद्धराज वंश की मानों जान है। उसे मैं तुम्हें (विवाह में) देता हूं। (उसे) स्वीकार कीजिए।"

चेटी— (हंसकर) राजकुमारी ! अब क्रोध क्यों नहीं करती ?

नायिका—(मुस्कराहट तथा लज्जा के साथ नीचे मुख करके) सखी, मत हँस। क्या तू भूल गई कि इनका मन किसी और (स्त्री) में है ?

नायक— (अलग) मित्र, (बड़े) संकट में पड़ गए।

विदूषक— (अलग) हे मित्र, मैं जानता हूँ कि उसे छोड़ कर आपका मन और कहीं नहीं लग सकता। अतः जैसे तैसे जो कुछ भी कह कर इसे विदा करो।

नायिका—(क्रोध के साथ, मन ही मन) दुष्ट ! यह कौन नहीं जानता ?

---

1. जिसकी आस टूट चुकी हो ; जिसने आस तोड़ दी हो ; निर्दय; अभागा; दुष्ट ।

यक:—मित्रावसो ! क इह नेच्छेद् भवद्भिः सह श्लाघ्य-मीदृशं सम्बन्धम् ? किन्तु न शक्यते चित्तमन्यतः प्रवृत्तमन्यतो प्रवर्तयितुम्। अतो नाहमेनां प्रतिग्रहीतुमुत्सहे।

नायिका—(मूर्च्छां नाटयति)

चेटी— समस्ससदु समस्ससदु भट्टिदारिआ !

समाश्वसितु समाश्वसितु भर्तृदारिका !

विदूषक:-भो ! पराधीणो क्खु एसो, किं एदिणा अब्भत्थिदेण ?

भो ! पराधीनः खल्वेषः, किमनेनाभ्यर्थितेन ?

ता गुरुअणं से गदुअ अब्भट्ठेहि।

तद्गुरुजनमस्य गत्वाभ्यर्थय।

मित्रावसु:— (आत्मगतम्) साधूक्तं, नायं गुरुजनवचनमतिक्रामति। अस्य गुरुरप्यस्मिन्नेव गौर्याश्रमे प्रतिवसति। तद्यावद्गत्वाऽस्य पित्रा मलयवतीं प्रतिग्राहयामि।

नायिका— (समाश्वसिति)

मित्रावसु:— (प्रकाशम्) एवं निवेदितात्मनोऽस्मान् प्रत्याचक्षाणः कुमार एव बहुतरं जाणाति।

नायिका— (सरोषं विहस्य)

कहं पच्चाक्खाणलहू मित्तावसू पुणो वि मन्तेदि ?

कथं [1]प्रत्याख्यानलघुर्मित्रावसुः पुनरपि मन्त्रयते ?

नायक— मित्रावसु ! आप लोगों के साथ ऐसा प्रशंसनीय सम्बन्ध कौन नहीं चाहेगा ? परन्तु कहीं और लगे हुए मन को अन्यत्र नहीं लगाया जा सकता । अतः मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता ।

नायिका— (मूर्छित हो जाती है)

चेटी—धीरज धरो, राजकुमारी, धीरज धरो ।

विदूषक—अजी, यह पराधीन है। इस से प्रार्थना करने से क्या लाभ ? अतः इसके माता पिता के पास जाकर प्रार्थना कीजिए ।

मित्रावसु-(मन ही मन) इसने ठीक कहा है । यह अपने माता पिता के कहने का उल्लंघन नहीं करेगा । इस के पिता जी भी इसी गौरी आश्रम में ही रहते है अतः जाकर इनके पिता से मलयवती को स्वीकार करने को कहता हूँ ।

नायिका— (होश में आती है)

मित्रावसु—(प्रकट) इस प्रकार अपनी बात कहने पर हमें 'न' में उत्तर देने वाले कुमार स्वयं अधिक जानते हैं ।

नायिका—(क्रोध के साथ, हँसकर) क्या अस्वीकृति से अपमानित[1] मित्रावसु फिर भी बातें कर रहा है ?

---

1. इनकार से जो हलका अथवा तिरस्कृत हुआ है ।

[मित्रावसुः निष्क्रान्तः]

नायिका—(सास्रमात्मानं पश्यन्ती, आत्मगतम्)

किं मम एदिणा दोब्भग्गकलङ्कमइलेण अच्चंतदुक्खभाइणा
किं ममैतेन दौर्भाग्यकलङ्कमलिनेन अत्यन्तदुःखभागिनाऽ

अज्जवि सरीरेण धारिदेण ? ता इध ज्जेव्व असोअ-
द्यापि शरीरेण धारितेन ? तदिहैवाऽशोक-

पाअवे इमाए अदिमुत्तलदाए उव्वंधिअ अत्ताणं वावादइस्सं।
1
पादपेऽनयाऽतिमुक्तलतयोद्बध्यात्मानं व्यापादयिष्यामि ।

ता एव्वं दाव । (प्रकाशं विलक्षस्मितेन) हञ्जे ! पेक्ख
तदेवं तावत् । हञ्जे ! प्रेक्षस्व

दाव मित्तावसू दूरं गदो ण वेत्ति जेण अहिम्प इदो
तावत्, मित्रावसुर्दूरं गतो न वेत्ति, येनाहमपि इतो

गमिस्सं ।
गमिष्यामि ।

चेटी—(कतिचित्पदानि गत्वा, अवलोक्यात्मगतम्)

अण्णारिसं से हिअअं पेक्खामि, ता ण गमिस्सं । २५
अन्यादृशमस्या हृदयं प्रेक्षे । तन्न गमिष्यामि ।

ज्जेव ओवारिदा पेक्खामि किं एसा पडिवज्जदि त्ति ।
इहैवाऽपवारिता प्रेक्षे किमेषा प्रतिपद्यत इति ।

[इति स्थिता]

नायिका-[दिशोऽवलोक्य पाशं गृहीत्वा सास्रम्]

भअवदि गोरि ! इध तुए ण किदो पसादो,
भगवति गौरि ! इह त्वया न कृतः प्रसादः ;

[मित्रावसु का प्रस्थान]

नायिका—(आंसुओं के साथ, अपने आप को देखती हुई मन ही मन):

दुर्भाग्य रूपी कलङ्क से मलिन, अत्यन्त दुःख के भागी इस शरीर को धारण करने से अब क्या लाभ ? अतः इसी अशोक-वृक्ष के नीचे इस अतिमुक्त लता से गले में फांसी डाल कर मैं अपने आप को मार डालूंगी। तो ऐसा ही सही। (प्रकट, विचित्र हंसी के साथ) सखी, देखो तो मित्रावसु दूर चले गए कि नहीं, जिससे मै भी यहाँ से चलूँ।

चेटी—(कुछ कदम चलकर, देखकर, मन ही मन) इस का मन कुछ और प्रकार का देख रही हूँ। अतः मैं नहीं जाऊँगी। यहीं छिपकर देखूँ यह क्या करती है। (यह कह कर ठहर जाती है)

नायिका- (चारों ओर देखकर, फन्दा लेकर, आंसुओं के साथ) हे भगवती गौरी ? यहां (इस जन्म में) तो आप ने कृपा नहीं

---

1. उद्बध्य = फांसी लेकर।

'ता जम्मन्तरे जधा ण ईरिसी दुक्खभाइणी होमि, तथा करेसि
तज्जन्मान्तरे यथा नेदृशी दुःखभागिनी भवामि तथा करिष्यसि।
(कण्ठेपाशं मर्पयति)

चेटी— (दृष्ट्वा ससम्भ्रममुपेत्य) परित्ताअदु परित्ताअदु
परित्रायतां परित्रायताम्।

एसा भट्टिदारिआ उव्वन्धिअ अत्ताणं वावादेदि।
एषा भर्तृदारिकोद्बध्य आत्मानं व्यापादयति।

नायकः— (ससम्भ्रममुपसृत्य) क्वासौ ? क्वासौ ?

चेटी— अअं असोअपादवे।
इयमशोकपादपे।

नायकः—(सहर्षमवलोक्य) कथं सैवेयमस्मन्मनोरथभूमिः[1] ?
(नायिकां पाणौ गृहीत्वा लतापाशमाक्षिपन्)—

न खलु न खलु मुग्धे[2] ! साहसं कार्यमीदृक्
व्यपनय करमेतं पल्लवाभं लतायाः।
कुसुममपि विचेतुं यो न मन्ये समर्थः
कलयति[3] स कथं ते पाशमुद्बन्धनाय ॥ ११ ॥

नायिआ— (ससाध्वसम्)हञ्जे ! को उण एसो ?
हञ्जे ! कः पुनरेषः ?

श्लोक नं०: ११, अन्वयः—

मुग्धे ! न खलु न खलु ईदृक् साहसं कार्य्यम्।
पल्लवाभम् एतं करं लतायाः व्यपनय। मन्ये,
य ते (करः) कुसुमम् अपि विचेतुं न समर्थः
स उद्बन्धनाय पाशं कथं कलयति ?

की। अतः दूसरे जन्म में ऐसा करना कि इस प्रकार दुःखभागिनी न होऊँ।

[गले में फन्दा डालती है]

चेटी (देख कर, घबराहट के साथ पास जाकर) बचाओ ! बचाओ ! ! यह राजकुमारी गले में फांसी लगाकर अपने प्राण दे रही है।

नायक— (घबराहट के साथ पास जाकर) कहां है ? वह कहां है ?

चेटी—यह अशोक वृक्ष के नीचे।

नायक (हर्ष के साथ देखकर) हैं ! यह तो वही हमारी अभीष्ट प्रिया है ! (नायिका को हाथ से पकड़ कर लता के फन्दे को छुड़ाते हुए) हे सुन्दरी ! निश्चय ही ऐसा साहस नहीं करना चाहिए। पल्लव के समान कोमल इस हाथ को लता से हटा ले। मेरा विश्वास है कि जो तेरा हाथ फूल चुनने में (भी) समर्थ नहीं, वह फाँसी लगाने के लिए फन्दा कैसे पकड़ सकता है।

नायिका— (घबराहट के साथ) सखी ! यह कौन है ? (अच्छी तरह देख

---

1. सा + एव + इयम् + अस्मद् + मनोरथभूमिः। हमारी इच्छा का पात्र। अभीष्ट प्रिया। जिसे हम चाहते हैं।
2. मोहित करने वाली, सुन्दर, भोली भाली, पगली, मूर्ख।
3. पकड़ता है।

(निरूप्य सरोषं हस्तमाक्षेप्तुमिच्छति)—

मुञ्च मुञ्च मे अग्गहत्थं, को तुमं णिवारेदुं ? मरणे वि किं

मुञ्च मुञ्च मे ऽग्रहस्तम् । कस्त्वं निवारयितुम् ? मरणेऽपि किं

तुमं ज्जेव्व-अब्भत्थणीओ ।

त्वमेवाभ्यर्थनीयः ?

नायकः— नाहं मुञ्चामि ।

कण्ठे [1]हारलतायोग्ये येन पाशस्त्वयाऽर्पितः ।

गृहीतः सापराधोऽयं, स कथं मुच्यते करः ? ॥ १२ ॥

विदूषकः—भोदि ! किं उण से इमस्स मरणव्ववसाअस्स कारणं ?

भवति ! किं पुनरस्या अस्य मरणव्यवसायस्य[2] कारणम् ?

चेटी— (साकूतं[3]) णं एसो एव्व दे पिअवअस्सो ।

नन्वेष एव ते प्रियवयस्यः ।

नायकः—कथमहमेवास्या मरणकारणम् ? न खल्ववगच्छामि ।

विदूषकः— भोदि ! कहं विअ ।

भवति ! कथमिव ।

चेटी— (साकूतम्) जा सा पिअवअस्सेण दे कावि हिअअवल्लहा

या सा प्रियवयस्येन ते काऽपि हृदयवल्लभा

सिलाअले आलिहिदा ताए पक्खवादिणा एदेण

शिलातले आलिखिता तस्याः [4]पक्षपातिनैतेन

श्लोक नं: १२, अन्वयः—

येन (करेण) त्वया हारलतायोग्ये कण्ठे पाशः अर्पितः

स सापराधः करः अयं गृहीतः, (स) कथं मुच्यते ?

कर, क्रोध के साथ हाथ छुड़ाना चाहती है)—छोड़ो, मेरा हाथ छोड़ दो। तुम रोकने वाले कौन हो? क्या मरने के लिए भी आप से ही प्रार्थना करनी पड़ेगी?

नायक— मैं नहीं छोड़ता:—

जिस हाथ से तुमने हार के योग्य गले में फन्दा डाला है, वह अपराधी हाथ यह पकड़ा गया है। वह कैसे छोड़ा जा सकता है?

विदूषक—श्रीमती, इसके इस मरने के निश्चय का क्या कारण है?

चेटी— (अभिप्राय के साथ) यही तुम्हारे प्रिय मित्र।

नायक—मैं ही इस के मरने का कारण कैसे हूँ? यह मैं नहीं समझ सका।

विदूषक— आर्ये! वह कैसे?

चेटी—(अभिप्राय के साथ) जिस प्राणप्यारी को आपके प्रिय मित्र ने शिलातल पर चित्रित किया था उसी में आसक्ति के कारण

---

1. हारलता = लता के समान हलका सा हार।
2. व्यवसाय = कोशिश; निश्चय; काम, क्रिया।
3. आकूतं = अर्थ, अभिप्राय, भाव, आवेग, उत्कण्ठा, इच्छा।
4. पक्षपात = किसी के पक्ष में होना; किसी को पसन्द करना, चाहना, प्रेम करना; लगाव, आसक्ति।

पडिबादअन्तस्सवि मित्तावसुणो णाहं पडिच्छिदेत्ति

प्रतिपादयतोऽपि मित्रावसोर्नाहं प्रतीष्टेति

जादणिव्वेदाए इमाए एव्वं व्ववसिदं ।

जातनिर्वेदया[1]ऽनयैवं व्यवसितम् ।

नायकः—(सहर्षमात्मगतम्)-कथमियमेवासौ विश्वावसोर्दुहिता मलयवती ! अथवा रत्नाकारादृते[2] कुतश्चन्द्रलेखायाः प्रसूतिः ? हा ! कथं वञ्चितोऽस्म्यनया ?

विदूषकः—भोदि ! जइ एव्वं ता अणवरद्धो दाणी पिअवअस्सो।

भवति, यद्येवं तदनपराद्ध इदानीं प्रियवयस्यः ।

अहवा जइ मम ण पत्तिआअदि, तदा सअं ज्जेव्व

अथवा यदि मम न प्रत्येति, तदा स्वयमेव

गदुअ सिलाअलं पेक्खदु भोदि ।

गत्वा शिलातलं प्रेक्षतां भवती ।

नायिका-(सहर्षं सलज्जश्च नायकं पश्यन्ती हस्तमाक्षेप्तुमिच्छति)

मुञ्च मुञ्च मे अग्गहत्थं ।

मुञ्च मुञ्च मेऽग्रहस्तम् ।

नायकः—(सस्मितं) न तावन्मुञ्चामि यावन्मम हृदयवल्लभां शिलायामालिखितां न पश्यसि ।

[सर्वे चन्दनलतागृहं प्रविशन्ति]

विदूषकः— (कदलीपत्रमपनीय)

भोदि ! पेक्ख एदं से हिअअवल्लहं जणं।

भवति ! प्रेक्षस्व, एतमस्य हृदयवल्लभं जनम् ।

इन्हों ने मित्रावसु के द्वारा दी गई हुई भी मुझे स्वीकार नहीं किया इस से उदास हो कर इस ने ऐसा निश्चय किया है।

नायक— (हर्ष पूर्वक, मन ही मन) क्या यही विश्वावसु की पुत्री मलयवती है ? अथवा, सागर के बिना चन्द्रलेखा की उत्पत्ति कहां हो सकती है ? आह, इस ने मुझे कैसा धोखा दिया है।

विदूषक— श्रीमती जी, यदि ऐसा है तब तो मेरा प्रिय मित्र अपराध-रहित है। अथवा, यदि मेरा विश्वास नहीं करतीं तो आप स्वयं जाकर शिलातल को देख सकती हैं।

नायिका—(हर्ष तथा लज्जा के साथ, नायक को देखती हुई, हाथ खींचना चाहती है)– छोड़िए, मेरा हाथ छोड़ दीजिए।

नायक— (मुस्कराहट सहित) तब तक नहीं छोड़ूंगा जब तक शिला पर चित्रित मेरी प्राणप्रिया को देख न लेगी।

(सब चन्दनलता गृह में प्रवेश करते हैं)

विदूषक— (केले के पत्ते को हटाकर) देवी, देखिए, यह है इस की प्राणप्रिया।

---

1. निर्वेदः = निराशा; उदासीनता; मन का उचाट होना; वैराग्य; शोक; अपमान;

2. ऋते = विना। इसके साथ पञ्चमी विभक्ति आती है।

नायिका-(निरूप्यापवार्य सस्मितं) चदुरिए ! अहं विअ आलिहिदा!

चतुरिके ! अहमिवालिखिता !

चेटी-(चित्राकृतिं नायिकाञ्च निर्वर्ण्य) भट्टिदारिए किं भणसि-

भर्तृदारिके ! किं भणसि-

अहं विअ आलिहिदेत्ति । ईरिसं से सारिच्छं जेण ण

अहमिवालिखितेति । ईदृशमस्य सादृश्यं येन न

जाणीअदि किं दाव इध ज्जेव्व सिलाअले भट्टिदारिआए

ज्ञायते किं तावदिहैव शिलातले भर्तृदारिकाया:

पडिबिम्बं संक्कंतं, उद तुमं आलिहिदेत्ति ।

प्रतिविम्बं सङ्क्रान्तम्, उत त्वमालिखितेति ।

नायिका — (विहस्य) हञ्जे दुज्जणीकिदम्हि इमिणा मं

हञ्जे [1]दुर्जनीकृतास्म्यनने मां

चित्तगदं दंसअंतेण ।

चित्रगतां दर्शयता ।

विदूषक:— भो ! णिव्वुत्तो दाणीं दे गन्धव्वो विआहो ।

भो ! निर्वृत्त[2] इदानीं ते गन्धर्वविवाहः ।

ता मुञ्च दाव से अग्गहत्थं । एसा क्खु कावि

तन्मुञ्च तावदस्या अग्रहस्तम् । एषा खलु कापि

तुरिदतुरिदा इध ज्जेव्व आअच्छदि ।

त्वरितत्वरिता इहैवागच्छति ।

नायक:— (मुञ्चति)

[ततः प्रविशति चेटी]

नायिका—(देखकर, मुस्कराहट के साथ, अलग) चतुरिके ! यह तो मानो मेरा ही चित्र है ! (मानों मैं ही चित्रित की गई हूँ)

चेटी—(चित्र की आकृति और नायिका को देखकर) राजकुमारी, क्या कहती है "मानों मैं ही चित्रित हूं"। इस की तो (आप के साथ) इतनी सदृशता है कि यह मालूम ही नहीं होता कि यहां शिलातल पर राजकुमारी का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है अथवा आप का चित्र बना है।

नायिका—(हँस कर) सखी ! चित्र में मुझे ही चित्रित हुई दिखाकर इन्हों ने मुझे (ही) अपराधिनी बना दिया है।

विदूषक— अजी आपका गन्धर्व विवाह हो गया। अतः इसका हाथ छोड़ दो। यह कोई स्त्री जल्दी जल्दी यहां ही आ रही है।

नायक— (छोड़ देता है)।

[चेटी का प्रवेश]

---

1. मेरा ही चित्र दिखा कर इन्हों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मैं ही 'दुर्जन' (दुष्ट) हूँ।
2. सम्पूर्ण। हो चुका।

चेटी—(उपसृत्य, सहर्षम्) भट्टिदारिए ! दिट्ठिआ वड्ढसि ।
भर्तृदारिके ! दिष्ट्या वर्धसे ।

पडिच्छिदा क्खु तुमं भट्टिओ जीमूदवाहणस्स गुरुहिं ।
प्रतीष्टा[1] खलु त्वं भर्तुर्जीमूतवाहनस्य गुरुभिः ।

विदूषकः—(नृत्यन्) ही ही भो ! सम्पुण्णा मणोरहा
ही ही भोः ! सम्पूर्णा मनोरथाः

पिअवअस्स । अहवा णहि णहि, भोदीए मलअवदीए ।
प्रियवयस्य । अथवा नहि नहि, भवत्या मलयवत्याः ।

अहवा ण एदाणं । (भोजनमभिनयन्) मम ज्जेव एकस्स बह्मणस्स ।
अथवा न एतयोः । ममैव एकस्य ब्राह्मणस्य ।

चेटी—(नायिकामुद्दिश्य) आणत्तम्हि जुअराअमित्तावसुणा
आज्ञप्तास्मि युवराजमित्रावसुना

जहा—अज्ज ज्जेव मलअवदीए विआहो । ता लहुं तं
यथा—अद्यैव मलयवत्याः विवाहः । तल्लघु तां

गेण्हिअ आअच्छ त्ति । ता एहि गच्छम्ह ।
गृहीत्वागच्छ' इति । तदेहि गच्छावः ।

विदूषकः—आः गदा क्खु तुमं दासीए धीए ! एदं गेण्हिअ ।
आः गता खलु त्वं, [2]दास्याःपुत्रि ! इमां गृहीत्वा ।

पिअवअस्सेण किं इध ज्जेव्व अवत्थिदव्वं ?
प्रियवयस्येन किमिहैवावस्थातव्यम् ?

चेटी—हदास ! मा तुवर । तुम्हाणं पि ण्हवणअं आअदं ज्जेव ।
हताश[3] ! मा त्वरस्व । युष्माकमपि [4]स्नपनकमागतमेव ।

चेटी—(पास जाकर, हर्ष के साथ), राजकुमारी! बड़े आनन्द की बात है। बधाई हो महाराज जीमूतवाहन के माता पिता ने तुम्हें (पुत्रवधू) स्वीकार कर लिया है।

विदूषक— (नाचते हुए) अहा हा!! मेरे प्रिय मित्र के सब मनोरथ पूर्ण हो गए। अथवा, नहीं नहीं, श्रीमती मलयवती के। अथवा, इन दोनों के (ही) नहीं। (खाने का अभिनय करते हुऐ) मुझ अकेले ब्राह्मण के ही।

चेटी— (नायिका से) युवराज मित्रावसु ने मुझे आज्ञा दी है कि— "आज ही मलयवती का विवाह है। अतः शीघ्र ही उसे लेकर आ।" तो आओ चलें।

विदूषक— अरी दुष्ट, तू सचमुच इसे लेकर जा रही है। मेरे प्रिय मित्र को क्या यहीं ठहरना होगा?

चेटी— अरे नीच, इतनी जल्दी न कर। आप के स्नान का समय भी आया समझो।

---

1. स्वीकार कर ली गई।
2. दास्याः पुत्री = नौकरानी की बेटी। शब्दार्थ छोड़ अब यह गाली बन गई है। दुष्ट, नीच। 3. निराश, दुष्ट, नीच।
4. स्नपनकं = स्नान, नहाना। अथवा, स्नान के समय। अथवा, स्नान की सामग्री (स्नान करने का सामान)।

नायिका-(सानुरागं सलज्जं च नायकं पश्यन्ती सपरिवारा निष्क्रान्ता)

[नेपथ्ये वैतालिकः पठति]

वृष्ट्या पिष्टातकस्य[1] द्युतिमिह मलये मेरुतुल्यां दधानः
सद्यः[2] सिन्दूर-दूरीकृतदिवससमारम्भसन्ध्यातपश्रीः ।
[3]उद्गीतैरङ्गनानां चलचरणरणन्नूपुरह्लादहृद्यै-
रुद्वाहस्नानवेलां कथयति भवतः सिद्धये [4]सिद्धलोकः ॥१३॥

विदूषकः- (आकर्ण्य) भो वअस्स ! दिट्ठिआ आगदं ण्हवणअं ।

भो वयस्य ! दिष्ट्यागतं स्नपनकम् ।

नायकः—(सहर्षम्)सखे! यद्येवं तत्किमिदानीमिह स्थितेन । तदागच्छ। तातं नमस्कृत्य स्नानभूमिमेव गच्छावः ।

[5]अन्योऽन्यदर्शनकृतः समानरूपानुरागकुलवयसाम् ।
केषाञ्चिदेव मन्ये समागमो भवति [6]पुण्यवताम् ॥ १४ ॥

[निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

श्लोक नं: १३, अन्वयः—

पिष्टातकस्य वृष्ट्या इह मलये मेरुतुल्यां द्युतिं दधानः
सद्यः सिन्दूरदूरीकृतदिवससमारम्भसन्ध्याऽऽतपश्रीः,
अङ्गनानां चलचरणरणन्नूपुरह्लादहृद्यैः उद्गीतैः,
सिद्धलोकः भवतः सिद्धये उद्वाहस्नानवेलां कथयति ।

श्लोक नं०: १४, अन्वयः—

मन्ये समानरूपानुरागकुलवयसाम् केषाञ्चिद्
पुण्यवताम् एव अन्योऽन्यदर्शनकृतः
समागमः भवति ॥

नायिका—(प्रेम तथा लज्जा के साथ नायक को देखती हुई दासियों के साथ चली जाती है)

[पर्दे के पीछे वैतालिक (भाट) पढ़ता है]—

अबीर (गुलाल) की वृष्टि से वहां मलय पर्वत पर मेरु पर्वत की सी शोभा धारण करते हुए, झट ही सिन्दूर से दिन के आरम्भ (प्रात:) तथा सायंकाल के प्रकाश की शोभा को मात करते हुए, स्त्रियों के चञ्चल चरणों के बजते हुए नूपुरों की ध्वनि से (मिलकर) मनोहर ऊँचे गीतों द्वारा (यह) सिद्धभूमि आपके कल्याण के लिए विवाह के स्नान के समय की सूचना दे रही है।

विदूषक—(सुनकर) हे मित्र ! सौभाग्य से आप के (विवाह) स्नान का समय आ गया।

नायक— (हर्ष के साथ)– मित्र ! यदि ऐसा है तो अब यहां ठहरने से क्या लाभ ? तो आओ, पिता जी को नमस्कार करके स्नान भूमि को ही चलें।

मेरा विचार है कि रूप, प्रेम, वंश तथा आयु में समान किन्हीं भाग्यशालियों का ही एक दूसरे को देखकर मिलाप हुआ करता है। [सब का प्रस्थान]

द्वितीय अङ्क समाप्त।

---

1. सुगन्धित पाऊडर (अबीर, गुलाल)। 2. उसी समय; झट।
3. उच्च स्वर में गाए गीत। 4. सिद्ध लोग। अथवा, सिद्ध भूमि।
5. दूसरा पाठ—"अन्योन्यप्रीतिकृतां"–है, जिस का अर्थ है 'परस्पर प्रेम करने वाले'। 6. पुण्य अथवा सौभाग्य वाले।

अथ तृतीयोऽङ्कः ।

I

[ततः प्रविशति मत्तो विचित्रविह्वलवेषश्चषकहस्तो विटः स्कन्धारोपितसुराभाण्डश्चेटश्च]

विटः—णिच्चं जो पिअइ सुरं जणस्स पिअसंगमञ्च जो कुणइ।
णित्यं यः पिबति सुरां जनस्य प्रियसङ्गमञ्च यः करोति।
मह दे दो अवि देवा बलदेओ कामदेओ अ ॥ १ ॥
मम तौ द्वावपि देवौ बलदेवः कामदेवश्च ॥

(घूर्णन्)—सफलं क्खु मे सेहरअस्स जीविदं ।
सफलं खलु मे शेखरकस्य जीवितम् ।

वच्छत्थलम्हि दइआ णीलुप्पलवासिआ मुहे मइरा ।
वक्षःस्थले दयिता नीलोत्पलवासिता मुखे मदिरा ।
सीसम्मि अ सेहरओ णिच्चं विअ संठिआ जस्स ॥ २ ॥
शीर्षे च शेखरको नित्यमिव संस्थिता यस्य ॥

(प्रस्खलन्) अरे को मं चालेदि ? (सहर्षम्) अवस्सं णोमालिआ मं परिहसदि ।
अरे ! को मां चालयति ? अवश्यं नवमलिका मां परिहसति ।

श्लोक नं: १, अन्वयः—

यः नित्यं सुरां पिबति, यः च जनस्य प्रियसङ्गमं करोति तौ द्वौ अपि— बलदेवः कामदेवः च— मम देवौ ।

श्लोक नं: २, अन्वयः—

यस्य वक्षःस्थले दयिता, मुखे नीलोत्पलवासिता मदिरा, शीर्षे च शेखरकः नित्यमिव संस्थिताः ।

तीसरा अङ्क

[मस्त, विचित्र तथा विह्वल[1] (अटपट) वेष धारण किए हुए, हाथ में शराब का प्याला लिए हुए विट और कन्धे पर शराब का मटका रक्खे चेट का प्रवेश]

विट— जो नित्य शराब पीते हैं वह बलदेव, और जो लोगों को अपने प्रियजनों से मिलाते हैं वह कामदेव—ये दोनों ही मेरे (पूज्य) देवता हैं।

(झूमते हुए) सचमुच मुझ शेखरक का जीवन सफल है :— जिसकी छाती पर प्राणप्यारी, मुख में नील कमलों से सुवासित शराब और सिर पर फूलों का मुकुट नित्य रहते हैं। (लड़खड़ाते हुए) अरे ! मुझे कौन हिला रहा है ? (प्रसन्नता के साथ) जरूर नवमालिका मुझ से हंसी कर रही है।

---

1. विह्वल = बिखरी हुई, अटपटी (वेष भूषा)

पिअवअस्सो कुसुमाअरुज्जाणं गमिस्सदि त्ति ।

प्रियवयस्य: कुसुमाकरोद्यानं गमिष्यतीति :

ता जाव तहिंज्जेव्व गमिस्सं । (परिक्रम्य विलोक्य च) इदं

तद्यावत्तत्रैव गमिष्यामि । इदं

कुसुमाअरुज्जाणं, जाव पविसामि । प्रविश्य भ्रमरबाधां नाटयन्),

कुसुमाकरोद्यानं, यावत्प्रविशामि ।

अरे कीस उण एदे दुट्ठमहुअरा मं ज्जेव्व अभिभवंति

अरे कथं पुनरेते दुष्टमधुकरा मामेवाभिभवन्ति[1] ।

(आत्मानमाघ्राय) भोदु जाणिदं, जं तं मलअवदीवंधुजणेण

भवतु ज्ञातं, मत्तन्मलयवतीबन्धुजनेन

जामातुअस्स पिअवअस्सो त्ति कदुअ सवहुमाणं

जामातु: प्रियवयस्य इति कृत्वा सबहुमानं

वण्णकेहिं विलित्तोम्हि । सन्ताणकुसुमसेहरअं चं मम सीसे

[2]वर्णकैर्विलिप्तोऽस्मि । [3]सन्तानकुसुमशेखरश्च मम शीर्षे

पिणद्धं । सो क्खु एसो अच्चाअरो अणत्थीभूदो किं दाणिं

पिणद्ध: । स खलु एषोऽत्यादरो ऽनर्थीभूत: । किमिदानीमत्र

एत्थ करिस्सं ? अहवा एदेण ज्जेव्व मलअवदीए

करिष्यामि ? अथवा, एतेनैव मलयवत्या:

स आसादो लद्धेण रत्तंसुअजुअलेण इत्थिआवेसं विहिअ

सकाशाल्लब्धेन रक्तांशुकयुगलेन स्त्रीवेषं विधाय

उत्तरीअकिदावगुण्ठणो गमिस्सं । पेक्खामि दाव

उत्तरीयकृतावगुण्ठनो गमिष्यामि । प्रेक्षे तावत्

कि मेरे प्रिय मित्र कुसुमाकर नामी बाग़ में जाएँगे। तो फिर मैं भी वहीं जाता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह रहा कुसुमाकर उद्यान ! अतः भीतर जाता हूँ ! (प्रवेश करके, भौरों द्वारा की गई रुकावट का अभिनय करते हुए) अरे ! क्यों ये दुष्ट भौंरे मुझ पर ही आक्रमण करने लगे। (अपने आप को सूंघ कर) अच्छा, जान लिया। मलयवती के बन्धुजनों ने मुझे दामाद का प्रिय मित्र जान कर बड़े सम्मान के साथ चन्दन आदि का लेप कर दिया है और सन्तान वृक्ष के फूलों का मुकुट भी मेरे सिर पर बांध दिया है। वही यह अति सम्मान (मेरे लिए) अनर्थ बन गया है। अब मैं क्या करूं ? अथवा, इन्हीं मलयवती से प्राप्त दोनों लाल वस्त्रों से औरत का भेस करके और चादर से घूंघट निकाल कर चलता हूँ ! फिर देखूं यह

---

1. आक्रमण करना, कष्ट देना।
2. वर्णक = चन्दन, सुगन्धित रंग, उबटन।
3. सन्तान = इन्द्र के स्वर्ग के पांच वृक्षों में से एक। शेष चारों के नाम ये हैं— मन्दार, पारिजात, कल्प तथा हरिचन्दन।

दासीए पुत्ता महुअरा किं करिस्संति त्ति ।

दास्याः पुत्रा मधुकराः किं करिष्यन्तीति ।

[तथा करोति]

चेटः— निरूप्य सहर्षम्) अरे चेड़ा ! (अङ्गुल्या निर्दिश्य सहासम्)

अरे चेट !

एसा क्खु णोमालिआ मं पेक्खिअ अहं चिरस्स आअदो

एषा खलु नवमालिका मां प्रेक्ष्य 'अहं चिरस्यागत'

त्ति कुविदा अवगुण्ठनं कदुअ अण्णदो गच्छदि।

इति कुपिताऽवगुण्ठनं कृत्वाऽन्यतो गच्छति ।

ता कण्ठे गेण्हिअ पसादेमि णं ।

तत्कण्ठे गृहीत्वा प्रसादयाम्येनाम् ।

[सहसोपसृत्य कण्ठे गृहीत्वा मुखे ताम्बूलं दातुमिच्छति]

विदूषकः— (मद्यगन्धं सूचयन्नासिकां गृहीत्वा पराङ्मुखः

स्थित्वा) कहं एक.णं महुअराणं सआसादो परिब्भट्ठो

कथमेकेषां [1]मधुकराणां सकाशात्परिभ्रष्ट

दाणिं अण्णस्स दुट्ठमहुअरस्स मुहे पडिदोम्हि ।

इदानीमन्यस्य दुष्टमधुकरस्य मुखे पतितोऽस्मि ।

चेटः— कहं कोवेण परम्मुही भूदा ?

कथं कोपेन पराङ्मुखी भूता ?

(प्रणामं कुर्वन्, विदूषकस्य चरणमात्मनः शिरसि कृत्वा)

पसीद णोमालिए ! पसीद ।

प्रसीद नवमालिके ! प्रसीद ।

दुष्ट भौंरे (मेरा) क्या कर लेंगे। [वैसा ही करता है]

विट—(देखकर, हर्ष पूर्वक) अरे चेट! (अंगुली से इशारा करके, हँसते हुए) निश्चय ही यह नवमालिका मुझे देखकर, क्योंकि मैं देर से आया हूँ अतः कुपित होकर, (मुखपर) घूंघट करके दूसरी ओर जा रही है। अतः इसे गले लगाकर प्रसन्न करता हूँ।

[झट पास जाकर, उसे गले लगाकर, मुख में पान देना चाहता है]

विदूषक—(शराब की बू की सूचना देते हुए, नाक पकड़ कर, मुख फेर कर) क्या एक प्रकार के मधुकरों से (भौंरों) से छूट कर अब मैं दूसरे दुष्ट मधुकर (शराबी) के मुख (चंगुल) में पड़ गया हूँ।

विट—क्या क्रोध से मुंह फेर रही है? (प्रणाम करता हुआ विदूषक के चरण को अपने सिर पर रख कर) प्रसन्न हो, नवमालिका, प्रसन्न होवो। [चेटी का प्रवेश]

---

1. मधुकर = (i) भौंरा; (ii) मस्त शराबी।

चेटी—आणत्तम्हि भट्टिदारिए जणणीए—हञ्जे णोमालिए !
आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकाया जनन्या —हञ्जे नवमालिके !
कुसुमाअरुज्जाणं गदुअ उज्जाणपालिअं पल्लविअं भणाहि -
कुसुमाकरोद्यानं गत्वा उद्यानपालिकां पल्लविकां भण—
"अज्ज सविसेसं तमालवीहिअं सज्जीकरेहि। मलअवदी-
"अद्य सविशेषं तमालवीथिकां[1] सज्जीकुरु। मलयवती-
सहिदेण जामादुएण तत्थ गन्दव्वं' त्ति। आणत्ता च मए
सहितेन जामात्रा तत्र गन्तव्यमिति। आज्ञप्ता च मया
पल्लविआ। ता जाव रअणीविरहवड्ढिदोत्कण्ठं
पल्लविका। तद्यावद्रजनीविरहवर्धितोत्कण्ठं
पिअवल्लहं सेहरअं अण्णेसामि। (दृष्ट्वा) एसो सेहरओ!
प्रियवल्लभं शेखरकमन्विष्यामि। एष शेखरकः!
(सरोषम्) कहं अण्णं कम्पि इत्थिअं पसादेदि! ता इह
कथमन्यां कामपि स्त्रियं प्रसादयति! तदिह
ट्ठिदा ज्जेव्व जाणामि का एसेत्ति।
स्थितैव जानामि कैषेति।

विट—(सहर्षम्)—
हरिहरपिदामहाणं पि गव्विदो जो ण जाणइ णमिदुं
2
हरिहरपितामहानामपि गर्वितो यो न जानाति नन्तुम्।
सो सेहरओ चलणेसु तुज्ज णोमालिए! पडइ ॥३॥
स शेखरकश्चरणयोस्तव नवमालिके! पतति ॥

श्लोक नं: ३, अन्वयः—
यः गर्वितः हरिहरपितामहानामपि नन्तुं न जानाति
स शेखरकः नवमालिके! तव चरणयोः पतति।

चेटी—राजकुमारी (मलयवती) की माता जी ने मुझे आज्ञा दी है कि 'अरी नवमालिका! कुसुमाकर उद्यान में जाकर उद्यानपालिका। (मालिन) पल्लविका से कह कि "आज अच्छी तरह से तमालवीथी (तमालवृक्षों के बीच का मार्ग) सजाओ। (क्योंकि) मलयवती के साथ जामाता (जीमूतवाहन) वहां जाएँगे।" और मैं ने पल्लिका को आज्ञा दे दी है। अतः अब रात भर के वियोग से बढ़ी हुई उत्कण्ठा वाले अपने प्रिय स्वामी शेखरक को ढूंढती हूँ। (देख कर) यह रहा शेखरक! (क्रोध के साथ) क्या किसी दूसरी स्त्री को प्रसन्न कर रहा है? अतः यहीं ठहर कर ही मालूम करती हूँ कि यह कौन है।

विट—(हर्षपूर्वक) हे नवमालिकां! जो शेखरक गर्व के कारण विष्णु, शिव अथवा ब्रह्मा को भी प्रणाम करना नहीं जानता, वह तेरे चरणों पर पड़ रहा है।

---

1. वीथिका = गली; सड़क; रास्ता, मार्ग।
2. पितामह = दादा अथवा ब्रह्मा।

विदूषकः—दासिएपुत्ता! मत्तवालआ! कुदो एत्थ णोमालिआ?
दास्याःपुत्र ! मत्तवालक[1]! कुतोऽत्र नवमालिका ?

चेटी—(निरूप्य, सस्मितम्) कथं मं त्ति करिअ मदपरवसेण
कथं मामिति कृत्वा मदपरवशेन

सेहरएण अज्जो अरोओ पसादीअदि? ता जाव अलीअं
शेखरकेनार्याज्ञेयः प्रसाद्यते ? तद्यावदलीकं[2]

कोवं करिअ दुवेअि एदे परिहस्सिं।
कोपं कृत्वा द्वावप्येतौ परिहसिष्यामि।

चेटः—(चेटीं दृष्ट्वा, शेखरकं हस्तेन चालयन्)
भट्टका! मुञ्च एदं। ण भोदि एसा णोमालिआ। एसा
भर्तः ! मुञ्च एतम्। न भवत्येषा नवमालिका। एषा

उण रोसारत्तेहिं लोअणेहिं पेक्खंती आअदा।
[3]पुनारोपारक्ताभ्यां लोचनाभ्यां प्रेक्षमाणागता।

चेटी—(उपसृत्य) सेहरअ! का उण एसा पसादीअदि ?
शेखरक ! का पुनरेषा प्रसाद्यते ?

विदूषकः— (अवगुण्ठनमपनीय) अहं मन्दफुभाअधेआए पुत्तो।
अहं मन्दभागधेयायाः पुत्रः।

चेटः—(विदूषकं निरूप्य) अरे कविलमंक्कडा! तुमंपि मं सेहरअं
अरे कपिलमर्कट ! त्वमपि मां शेखरकं

पदारेसि? अरे चेडा! गेण्ह एदं। जाव णोमालिअं
प्रतारयसि? अरे चेट ! गृहाणैनं, यावन्नवमालिकां

प्रसादेमि।
प्रसादयामि।

विदूषक — बदमाश ! मतवाले ! नवमालिका यहां कहां ?

चेटी—(देख कर, मुस्कराती हुई) क्या मुझे समझ कर नशे के कारण परवश हुआ शेखरक आर्य आत्रेय को प्रसन्न कर रहा है? अच्छा तो नकली गुस्सा करके इन दोनों की हँसी उड़ाती हूँ।

चेट— (चेटी को देखकर, शेखरक को हाथ से झंझोड़ कर) स्वामी ! इसे छोड़ दीजिए। यह नवमालिका नहीं है। वह तो क्रोध के कारण लाल लाल आंखों से देखती हुई (यह) आ गई।

चेटी— (पास जा कर) शेखरक ! यह कौन मनाई जा रहीहै ?

विदूषक — (घूंघट हटा कर) (यह) मै हूँ (एक) अभागिन का पुत्र।

विट— (विदूषक को देखकर) –अरे भूरे बन्दर ! तू भी शेखरक को धोखा देता है ? अरे चेट ! इसे पकड़ जब तक मैं नवमालिका को प्रसन्न करता हूँ।

---

1. मत्तवालक अथवा मत्तपालक = मतवाला; शराबी।
2. अलीकं = झूठा; बनावटी; नकली।
3. पुनः + रोष + आरक्त। र् के आगे यदि र् आ जाए तो पहिले र् का लोप हो जाता है। और उस से पहिले के ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर देते हैं। अतः पुनर् के र् का लोप हो कर, उससे पूर्व 'अ' दीर्घ हो गया है।

चेटः– जं भट्टके आणवेदि ।

यद्भर्ताज्ञापयति ।

विटः –(विदूषकं विमुच्य चेट्याः पादयोः पतति)

पसीद णोमालिए ! पसीद ।

प्रसीद नवमालिके ! प्रसीद ।

विदूषकः— (आत्मगतम्) एसो मे अवक्कमिदुं अवसरो ।

एष मेऽपक्रमितुमवसरः ।

[पलायितुमीहते]

चेटः– (विदूषकं यज्ञोपवीते गृह्णाति । यज्ञोपवीतं त्रुट्यति)

कहिं कहिं कविलमंकडा पलाअसि ?

क्व क्व कपिलमर्कट ! पलायसे ?

[तदुत्तरीयेणैव गले बद्ध्वाकर्षति]

विदूषकः –भोदि णोमालिए ! पसीद । मोचेहि मं ।

भवति नवमालिके प्रसीद । मोचय माम् ।

चेटी–(विहस्य) जइ भूमीए सीसं णिवेसिअ पादेसु मे पडसि ।

यदि भूमौ शीर्षं निवेश्य पादयोर्मे पतसि ।

विदूषकः–(सरोषं सप्रकम्पश्च) भो ! कहं राअमित्तो वम्हणो

भो ! कथं राजमित्रं ब्राह्मणो

भविअ दासीए धीआए पादेसु पडइस्सं ?

भूत्वा दास्यापुत्र्याः पादयोः पतिष्यामि ?

चेटी— (अङ्गुल्या तर्जयन्ती[1] सस्मितम्) दाणिं पाडइस्सं ।

इदानीं पातयिष्यामि ।

चेट— जो स्वामी की आज्ञा।

विट— (विदूषक को छोड़ कर चेटी के पैरों पड़ता है)-प्रसन्न हो, नवमालिका ! प्रसन्न हो।

विदूषक– (मन ही मन)– यही मेरे भागने का मौका है।

[भागना चाहता है]

विट— (विदूषक को यज्ञोपवीत से पकड़ता है, यज्ञोपवीत टूट जाता है) कहाँ, भूरे बन्दर, कहाँ भागता है ?

[उसी की चादर से गले से बाँधकर खींचता है]

विदूषक– देवी नवमालिका ! प्रसन्न हूजिए। मुझे छुड़ाइए।

चेटी-- (हँसकर) यदि भूमि पर सिर रख कर मेरे पैरों पर गिरे तो (छुड़ाऊंगी)।

विदूषक-- (क्रोध से कांपता हुआ) अरे क्या राजा का मित्र और ब्राह्मण होकर तुझ राँड के पाओं पड़ूंगा ?

चेटी— (अंगुली से डराती हुई, मुस्कराहट के साथ) अब (तुम्हें अपने पैरों पर) गिराऊँगी। शेखरक ! उठो, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ।

---

1. तर्ज् + शतृ + स्त्री०।

-! उट्ठेहि पसण्णा दे अहं। (कण्ठे गृह्णाति) एसो
-खरक ! उत्तिष्ठ। प्रसन्ना तेऽहम्। एष

उण जामाउकस्स पिअवअस्सो तुए खलीकीदो। एव्वञ्च
पुनर्जामातुः प्रियवयस्यस्त्वया खलीकृतः[1]। एवञ्च

सुणिअ कदावि भट्टा मित्तावसू तव कुप्पइ। ता आदरेण
श्रुत्वा कदापि भर्ता मित्रावसुस्तुभ्यं कुप्यति। तदादरेण

सम्माणेहि एणं।
सम्मानयैनम्।

चिटः–जं णोमालिआ आणवेदि। (विदूषकं कण्ठे गृहीत्वा)
यन्नवमालिकाज्ञापयति।

अज्ज ! तुमं मए -सम्बन्धिओ त्ति करिअ परिहसिदो।
आर्य ! त्वं मया सम्बन्धीति कृत्वा परिहसितः।

(घूर्णन्) किं सच्चकं ज्जेव्व सेहरओ मत्तो किदो परिहासो।
किं सत्यमेव शेखरको मतः ? कृतः[2] परिहासः।

(उत्तरीयं वर्त्तुलीकृत्य आसनं ददाति) इध उवविसदु सम्बन्धिओ।
इहोपविशतु सम्बन्धी।

विदूषकः– (स्वगतम्) दिट्ठिआ अवगदो विअ से मदावेगो।
दिष्ट्याऽपगत इवास्य मदावेगः।

[उपविशति]

चिटः– णोमालिए ! उवविस तुमं पि एदस्स पासे, जेण दुवेवि
नवमालिके ! उपविश त्वमप्येतस्य पार्श्वे, येन द्वावपि

तुम्हे समं ज्जेव्व सम्मणाइस्सं।
युवां सममेव सम्मानयिष्यामि।

(गले लगाती है) दामाद (जीमूतवाहन) के इस प्रिय मित्र के साथ तुम ने दुर्व्यवहार किया है। यह सुन कर कहीं स्वामी मित्रावसु तुम्हें नाराज हों। इसलिए आदर के साथ इनका सम्मान करो।

विट — जो नवमालिका की आज्ञा। (विदूषक को गले लगाकर) आर्य? आप हमारे सम्बन्धी हैं यह सोचकर ही हँसी माज़क किया है है। (झूमता हुआ) क्या सचमुच शेखरक मदमस्त है? (नहीं) मज़ाक ही किया है। (चादर को गोलकर आसन बनाकर देता है.) सम्बन्धी जी, यहां बैठिए।

विदूषक—(मन ही मन) भाग्यवश जान पड़ता है मानों इसके नशे का जोश उतर गया है। [बैठता है]

विट — नवमालिका! तू भी इसी के पास बैठ जा ताकि तुम दोनों का सम्मान एक साथ ही कर सकूं!

---

1. खल + च्वि + क्त। अपमान करना; कष्ट देना; बुरा व्यवहार करना।

2. मज़ाक किया है। अथवा, मज़ाक हो चुका; मज़ाक को छोड़िए।

चेटी– (विहस्योपविशति)

विटः– (चषकमादाय) अरे चेडा सुभरिदं क्खु एदं चसअं

अरे चेट ! सुभृतं खल्वेतं चषकं

करेहि अच्छसुराए।

कुरु अच्छसुरया ।

चेटः— (नाट्येन चषकभरणं करोति)

विटः– (स्वशिरः शेखरात् पुष्पाणि गृहीत्वा चषके विन्यस्य जानुभ्यां स्थित्वा नवमालिकायाः उपनयति)

णोमालिए! चक्खिअ देहि एदं एदस्स ।

नवमालिके ! आस्वाद्य देह्येतदेतस्य !

चेटी– (सस्मितम्) जं सेहरओ भणादि ।

यच्छेखरको भणति ।

[तथा कृत्वा विटस्यार्पयति]

विटः– (विदूषकस्य चषकमर्पयति) एदं णोमालिआ-

एतन्नवमालिका-

मुहसंसग्गसविसेसवासिअरसं सेहरआअण्णेण

मुखसंसर्गसविशेषवासितरसं शेखरकादन्येन

केणावि अणासादिदपुरुव्वं ता पिवेहि एदं। किं

केनाप्यनास्वादितपूर्वं, तत् पिबैतत् । किं

दे अवरं सम्माणं करिस्सं ?

तेऽपरं सम्मानं करिष्यामि ?

विदूषकः– (सवैलक्ष्यस्मितं[1] कृत्वा) सेहरअ ! बम्हणो क्खु अहं ।

शेखरक ! ब्राह्मणः खल्वहम्[2] ।

चेटी— (हँसती हुई बैठ जाती)

विट— (शराब का प्याला लेकर) अरे चेट ! इस प्याले को बढ़िया शराब से अच्छी तरह भर दे ।

चेट— (प्याला भरने का अभिनय करता है)

विट— (अपने सिर के मुकुट से फूल लेकर प्याले में डाल कर, घुटनों के बल बैठ कर नवमालिका के पास ले जाता है) नवमालिका ![1] चख कर यह इसे दो ।

चेटी—(मुस्कराते हुए)– जैसे शेखरक कहे । [वैसा ही कर के विट को दे देती है]

विट— (विदूषक को प्याला देता है)—नवमालिका के मुख के सम्पर्क से विशेष रूप से सुगन्धित इस रस को पिओ जिसका स्वाद शेखरक को छोड़ अभी तक और किसी ने नहीं लिया ! इस से बढ़ कर और मैं तेरा क्या आदर कर सकता हूँ ।

विदूषक—(विचित्र अथवा बनावटी हँसी के साथ) शेखरक ! मैं (तो) ब्राह्मण हूँ ।

---

1. घबराहट की हँसी; कृत्रिम हँसी; दिखावे की हँसी; विचित्र हँसी ।
2. ब्राह्मण के लिए मद्यपान वर्जित है—"ब्राह्मणो मद्यपानाद्धि ब्राह्मण्यादेव हीयते"।

विटः— जदि तुम बम्हणो, ता कहिं दे बम्हसुत्तं ?

यदि त्वं ब्राह्मणः, तत्क ते ब्रह्मसूत्रम् ?

विदूषकः - (यज्ञोपवीतं स्वशरीरेऽदृष्ट्वा) तं क्खु मे इमिणा

तत्खलु मेऽनेन

चेडेण कड्ढीअमाणं छिण्णं।

चेटेन कृष्यमाणं छिन्नम्।

चेटो-(विहस्य) जइ एव्वं ता वेदक्खराइं पि दाव कतिवि उदाहर।

यद्येवं तद्वेदाक्षराण्यपि तावत् कत्यप्युदाहर।

विदूषकः-भोदि ! इमिणा सीहुगन्धेण पिणद्धाइं मे वेदक्खराइं।

भवति ! अनेन शीधुगनिन्धेन[1] पिनद्धानि मे वेदाक्षराणि।

अहवा, किं मम भोदीए समं विवादेण। एसो दे

अथवा, किं मम भवत्या समं विवादेन। एष ते

बह्मणो पादेसु पडदि।

ब्राह्मणः पादयोः पतति। [इति पादयोः पतितुमिच्छति]

चेटो- (हस्ताभ्यां निवार्य्य) मा क्खु एव्वं करेदु अज्जो। सेहरअ

मा खल्वेवं करोत्वार्यः। शेखरक !

ओसर ओसर। सच्चं बम्हणो क्खु एसो।

अपसरापसर। सत्यं ब्राह्मणः खल्वेषः।

(विदूषकस्य पादयोः पतति) अज्ज ! ण तुए कुप्पिदव्वं।

आर्य ! न त्वया कुपितव्यम्।

सम्बन्धिआनुरूओ क्खु एसो मए परिहासो किदो।

सम्बन्धिकानुरुपः खल्वेष मया परिहासः कृतः।

विट—यदि तू ब्राह्मण है तो तेरा यज्ञोपवीत कहाँ है ?

विदूषक—(अपने शरीर पर यज्ञोपवीत न देखकर) उस मेरे यज्ञोपवीत को इस चेट ने खींचते हुए तोड़ डाला है।

चेटी—(हँसते हुए) यदि ऐसा ही है तो कुछ वेद के मन्त्र ही बोल।

विदूषक— भद्रे ! इस शराब की बू से मेरे वेद मन्त्र भी बन्द हो गए[1] हैं। अथवा, आप के साथ विवाद करने से मुझे क्या लाभ ? (लो) यह ब्राह्मण आप के पैरों पड़ता है।

[यह कह कर उसके पैरों पर गिरना चाहता है]

चेटी—(हाथों से रोक कर)— आर्य ! ऐसा मत करें। शेखरक ! हटो, हटो ! यह सचमुच ब्राह्मण ही है। (विदूषक के पैरों पर गिरती है) आर्य, आप नाराज़ न हों। सम्बन्धी के अनुरूप ही मैं ने ऐसा मज़ाक किया है।

---

1. बन्द हो गए हैं; मानों उन पर पर्दा पड़ गया है; मैं भूल गया हूँ। वस्तुत: उसे कोई वेद मन्त्र याद नहीं। शराब की बू का तो केवल बहाना ही है। इसी लिए अगले ही वाक्य में हथियार डाल देता है।

विट:— अहं पि णं पसादेमि। [पादयोर्निपत्य] मरिसेदु
अहम्पयेनं प्रसादयामि ! मर्षयतु,
मरिसेदु अज्जो, जं मए मदवरवसेण अवरद्धं, जेण अहं
मर्षयतु, आर्य:, यन्मया मदपरवशेनापराद्धम्; येनाहं
णोमालिए सह आवाणअं गमिस्सं।
नवमालिकया सहापानकं[1] गमिष्यामि।

विदूषक:—मरिसिदं मए, गच्छ तुम्हे, अहंपि पिअवअस्सं
मर्षितं मया, गच्छतं युवाम्। अहमपि प्रियवयस्यं
पेक्खामि।
प्रेक्षे। [निष्क्रान्तो विटश्चेट्या सह चेटश्च]

विदूषक:— अदिक्कंतो वम्हणस्स अकालमिच्चू। ता जाव
अतिक्रान्तो ब्राह्मणस्याकालमृत्यु:। तद्याव-
अहंपि मत्तवालअसङ्गदूसिदो इध दिग्घिआए ण्हाइस्सं।
दहमपि मत्तवालकसङ्गदूषित इह दीर्घिकायां स्नास्यामि।
[तथा करोति। नेपथ्याभिमुखमवलोक्य]—एसो पिअवअस्सोवि
एष प्रियवयस्योऽपि
रुक्मिणिं विअ हरी मलअवदीं अवलम्बिअ इदो ज्जेव्व
रुक्मिणीमिव हरिर्मलयवतीमवलम्ब्य[2] इत एव-
आअच्छदि। ता जाव पास्सपरिवत्ती होमि।
आगच्छति। तद्यावत्पार्श्वपरिवर्ती भवामि।

[ततः प्रविशति गृहीतवरनेपथ्यो नायको मलयवती चिभवतश्च परिवार:]

विट— मैं भी इन को मनाता हूँ। (पैरों पर गिरकर) क्षमा करें आर्य ! जो कुछ मैं ने नशे के जोश में अपराध किया है उसे आप क्षमा करें ताकि मैं नवमालिका के साथ मधुशाला को जाऊं।

विदूषक—मैं ने, क्षमा किया। आप दोनों जाइए। मैं भी अपने प्रिय मित्र को देखता हूँ। [चेटी के साथ विट और चेट का प्रस्थान]

विदूषक— (मुस्क) ब्राम्हण की अकाल मृत्यु टल गई। तो मैं शराबी के सम्पर्क से दूषित हुआ इस तालाब में स्नान करता हूँ। [वैसा ही करता है। (फिर) पर्दे की ओर देखकर] यह मेरा प्रिय मित्र, रुक्मणी को लिए कृष्ण के समान, मलयवती के साथ इधर ही आ रहा है। तो मैं भी इनके पास ही जाता हूँ। [वर वेष में नायक, मलयवती और वैभव के अनुरूप नौकरों का प्रवेश]

---

1. आपानकं = पानशाला; भट्टी; मधुशाला; शराब पीने की जगह; शराब की दुकान।
2. अवलम्ब्य = सहारा लेकर; हाथ पकड़ कर; उसके सङ्ग।

नायकः—(मलयवतीमवलोक्य सहर्षम्)

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति, बलादालिङ्गिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु [1]वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते ।
जाता [2]वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥४॥

(मलयवतीं पश्यन्)

हुङ्कारं ददता मया प्रतिवचो यन्मौनमासेवितं,
यद्दावानल दीप्तिभिस्तनुरियं चन्द्रातपैस्तापिता।
ध्यातं यत्सुबहून्यनन्यमनसा नक्तन्दिनानि प्रिये !
तस्यैतत्तपसः फलं मुखमिदं पश्यामि यत्तेऽधुना॥ ५ ॥

नायिका–(अपवार्य) हञ्जे चदुरिए ! ण केवलं दंसणीओ,
हञ्जे चतुरिके ! न केवलं दर्शनीयः,

श्लोक नं०: ४, अन्वयः—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, आभाषिता आलापं न कुरुते;
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति, बलात् आलिङ्गिता वेपते ।
वासभवनात् सखीषु निर्यान्तीषु निर्गन्तुम् इव ईहते,
वामतया एव अद्य मे नवोढा प्रिया सुतरां प्रीत्यै जाता ॥

श्लोक नं०: ५ अन्वयः—

यत् प्रतिवचः हुङ्कारं ददता मया मौनम् आसेवितम् ;
यत् दावानलदीप्तिभिः चन्द्रातपैः इयं तनुः तापिता;
यत् सुबहूनि नक्तन्दिनानि अनन्यमनसा (मया) ध्यातम्;
(हे) प्रिये ! तस्य तपसः एतत् फलं यत् ते इदं मुखं अधुना पश्यामि ॥

नायक—(मलयवती को देख कर, हर्षपूर्वक)

जब मैं इसे देखता हूँ तो यह अपनी दृष्टि नीचे कर लेती है; यदि मैं बातचीत करता हूँ तो यह बोलती ही नहीं; शय्या पर यह अपना मुख दूसरी ओर किए रहती है; बलात् (ज़बरदस्ती) आलिङ्गन करने पर काँपने लगती हैं; जब इसकी सहेलियां कमरे से जाने लगती हैं तो यह भी मानों निकल जाना चाहती है; इस प्रतिकूल आचरण से मेरी नवविवाहिता प्रिया और भी अधिक आनन्द का कारण बन गई है।

(मलयवती को देख कर)—

हे प्रिये ! (लोगों की) प्रत्येक बात के उत्तर में केवल हुङ्कार (हूँ, हूँ) करते हुए जो मैं ने मौनव्रत का पालन किया, दावाग्नि के समान गरम चन्द्रमा की किरणों से जो अपने इस शरीर को तपाया, बहुत काल तक रात-दिन एकाग्रचित्त से जो (तेरा ही) ध्यान किया— उसी तपस्या का यह फल है कि तेरा यह मुख अब देख रहा हूँ।

नायिका—(अलग) सखी चतुरिका ! यह केवल सुन्दर ही नहीं, अपितु

---

1. वासभवनं = रहने की जगह; घर; अथवा कमरा; शयनगृह।
2. वामता = विरुद्ध आचरण; इच्छा के प्रतिकूल आचरण।

पिअंपि भणितुं जाणादि।

प्रियमपि भणितुं जानाति ।

चेटी — (विहस्य) अयि पडिपक्खवादिणि ! सच्चं जेव एदं,

अयि [1]प्रतिपक्षवादिनि ! सत्यमेवैतत् ।

किं एत्थ पिअवअणं ?

किमत्र प्रियवचनम् ?

नायकः—चतुरिके ! आदेशय मार्गं कुसुमाकरोद्यानस्य ।

चेटी— एदु एदु भट्टा ।

एतु एतु भर्ता ।

नायकः—(परिक्रामन्नायिकां निर्दिश्य) स्वैरं स्वैरमागच्छतु भवती ।

खेदाय स्तनभार एव, किमु ते मध्यस्य हारोऽपरः ?
[2]ताम्यत्यूरुयुगं नितम्बभरतः, काञ्च्याऽनया किं पुनः ?
शक्तिः पादयुगस्य नोरुयुगलं वोढुं, कुतो नूपुरौ ?
स्वाङ्गैरेव विभूषिताऽसि, वहसि क्लेशाय किं मण्डनम् ? ॥६॥

चेटी—एदं क्खु तं कुसुमाअरुज्जाणं ता पविसदु भट्टा

एतत्खलु तत्कुसुमाकरोद्यानम् । तत्प्रविशतु भर्ता ।

[सर्वे प्रविशन्ति]

श्लोक नं० ६, अन्वयः—

स्तनभार एव ते मध्यस्य खेदाय, किमु अपरः हारः ?
नितम्बभरतः (एव) ऊरुयुगं ताम्यति, अनया काञ्च्या पुनः किम् ?
ऊरुयुगलं वोढुं पादयुगस्य शक्तिः न, कुतो नूपरौ ? स्वाङ्गैः एव
विभूषिताऽसि, (तत्) क्लेशाय मण्डनं कि वहसि ?

मीठा बोलना भी जानते हैं।

चेटी— (हँसकर) अरी उलटी बातें कहने वाली[1]! यह तो सचाई है। इस में मीठा बोल (चापलूसी) क्या है?

नायक— चतुरिका! कुसुमाकर उद्यान का मार्ग बता।

चेटी— आइए, स्वामी! आइए।

नायक— (घूमते हुए, नायिका से) देवी! ज़रा धीरे धीरे आइए। तुम्हारे स्तनों का भार ही तुम्हारी कमर को कष्ट देने के लिए (पर्याप्त) है, फिर दूसरे हार से क्या (लाभ)? नितम्बों के भार से ही दोनों जंघाएँ खिन्न[2] हैं; फिर इस मेखला से क्या (लाभ)? दोनों जँघाओं को वहन करने की शक्ति (भी) तेरे पैरों में नहीं फिर यह नूपुर (पाज़ेब) क्यों? तुम तो अपने (सुन्दर) ·· से ही विभूषित (सजी हुई) हो, फिर (इन अङ्गों को) क्लेश देने के लिए इन आभूषणों को क्यों धारण कर रही हो?

चेटी— यही वह कुसुमाकर उद्यान है। तो स्वामी प्रवेश करें।

[सब प्रवेश करते हैं]

---

1. विरोधी पक्ष का समर्थन करने वाली; विरुद्ध, विपरीत अथवा प्रतिकूल भाषिणी; उलटी बातें करने वाली।

2. थक गई हैं; खिन्न हैं; क्लेश अनुभव कर रही हैं।

नायकः-(विलोक्य) अहो नु कुसुमाकरोद्यानस्य परा श्रीः ! इह हि-
निष्यन्दश्चन्दनानां शिशिरयति लतामण्डपे [1]कुट्टिमान्तान्,
आराद् धारागृहाणां[2] ध्वनिमनु तनुते ताण्डवं नीलकण्ठः।
यन्त्रोन्मुक्तश्च वेगाच्चलति विटपिनां पूरयन्नालवालान्,
आपातोत्पीडहेलाहृतकुसुमरजः [3]पिञ्जरोऽयं जलौघः ॥७॥

अपि च—

अमी गीतारम्भैर्मुखरितलतामण्डपभुवः,
परागैः पुष्पाणां प्रकटपटवास[4]व्यतिकराः[5]
पिबन्तः पर्याप्तं सह सहचरीभिर्मधुरसं,
समन्तादापानोत्सवमनुभवन्तीह मधुपाः ॥८॥

विदूषकः— (उपसृत्य) जेदु जेदु भवं । सोत्थि भोदिए ।
जयतु जयतु भवान् । स्वस्ति भवत्यै ।

श्लोक नं०: ७, अन्वयः—

चन्दनानां निष्यन्दः लतामण्डपे कुट्टिमान्तान् शिशिरयति; आराद् धारागृहणां ध्वनिमनु नीलकण्ठः ताण्डवं तनुते। यन्त्रोन्मुक्तश्च आपातोत्पीडहेलाहृतकुसुमरजः पिञ्जरोऽयं जलौघः विटपिनाम् आलवालान् पूरयन् वेगात् चलति ।

श्लोक नं: ८, अन्वयः—

गीतारम्भैः मुखरितलतामण्डपभुवः,
पुष्पाणां परागैः प्रकटपटवासव्यतिकराः,
सहचरीभिः सह पर्याप्तं मधुरसं पिबन्तः,
अमी मधुपाः इह समन्ताद् आपानोत्सवम् अनुभवन्ति ।

नायक— (देखकर) अहा, इस कुसुमाकर उद्यान की शोभा कितनी उत्कृष्ट है ! यहाँ— चन्दन वृक्षों से चूता हुआ रस लताकुञ्ज में वेदी के किनारों को ठण्डा कर रहा है; समीप ही फ़व्वारों की ध्वनि के पश्चात् मोर नाचने लगा है; जल यन्त्रों से निकला हुआ, ज़ोर से गिरने से पीड़ित फूलों को धूलि को हरण करने से पीला हुआ, यह जल का समूह प्रवाह) वृक्षों की क्यारियों को भरता हुआ बड़े वेग से बह रहा है।

और भी—

गाना शुरु करने से लताकुञ्जों के (भीतरी) भागों को शब्दायमान करने वाले, फूलों की धूलि से स्पष्ट अङ्गराग धारण करने वाले, अपनी प्रियाओं के साथ मधु-रस का पर्याप्त पान करते हुए ये भौंरे यहां चारों ओर (मानों) पान महोत्सव (शराब पीने का उत्सव) मना रहे हैं।

विदूषक- (पास जाकर) महाराज की जय हो। देवी, आपका कल्याण हो।

---

1. वेदी अथवा फ़र्श। चबूतरा।
2. फ़व्वारों का घर। फ़व्वारे। प्रपात गृह।
3. पीला; लालपीला; सुनहरी। 4. सुगन्धित पाऊडर; अङ्गराग।
5. व्यतिकर: = मेल; सम्पर्क; अदला बदली।

नायकः— वयस्य ! चिरादागतोऽसि ।

विदूषकः—भो वअस्स ! लहुं ज्जेव्व आअदोम्हि । किं उण

भो वयस्य ! लघ्वेवागतोऽस्मि । किं[1] पुन-

विआहमहूसवमिलिदसिद्धविज्जाहराणं आपाणदंसणकोदूहलेण

र्विवाहमहोत्सवमिलितसिद्धविद्याधराणामापानदर्शनकौतूहलेन

परिब्भमंतो एत्तिअं वेलं चिट्ठिदोम्हि । ता तुमं पि दाव

परिभ्रमन्नेतावतीं वेलां स्थितोऽस्मि । तत्त्वमपि ताव-

पेक्ख ।

त्प्रेक्षस्व ।

नायकः—एवं यथाह भवान् । (समन्तादवलोकयन्) वयस्य !

पश्य, पश्य—

दिग्धाङ्गा [2]हरिचन्दनेन, दधतः सन्तानकानां स्रजो

माणिक्याभरणप्रभाव्यतिकरै[3]श्चित्रीकृताच्छांशुकाः ।

सार्धं[4] सिद्धजनैर्मधूनि दयितापीतावशिष्टान्यमी

मिश्रीभूय पिबन्ति चन्दनतरुच्छायासु विद्याधराः ॥६॥

तदेहि वयमपि तां तमालवीथिकां गच्छामः ।

[सर्वे परिक्रामन्ति]

श्लोक नं०: ६, अन्वयः—

हरिचन्दनेन दिग्धाङ्गाः, सन्तानकानां स्रजो दधतः,

माणिक्याभरणप्रभाव्यतिकरैः चित्रीकृताच्छांशुकाः

अमी विद्याधराः सिद्धजनैः सार्धं मिश्रीभूय दयितापीतावशिष्टानि

मधूनि चन्दनतरुच्छायासु पिबन्ति ।

विदूषक—यह रही तमालवीथी । यहां फिरते फिरते मानों श्रीमती जी थकी हुई सी दिखाई दे रही हैं । अतः यहीं स्फटिक मणि-शिला के ऊपर बैठ कर विश्राम कर लें ।

नायक— मित्र ! आप ने खूब देखा—

प्यारी का यह मुख अपनी गालों की शोभा से चन्द्रमा को जीतकर, गरमी से लाल होकर निश्चय अब मानों (लाल) कमल को भी जीतना चाहता है ।

(मलयवती का हाथ पकड़ कर)- प्रिये ! (आओ) यहां बैठें ।

नायिका— जैसे आर्यपुत्र की आज्ञा । [सब बैठ जाते हैं.]

नायक— (नायिका का मुख ऊँचा करके, देखते हुए)-हे प्रिये ! हम ने कुसुमाकर उद्यान को देखने की उत्सुकता से तुम्हें व्यर्थ ही कष्ट दिया । क्योंकि—

भौहों रूपी लताओं से सुशोभित और लाल होंठ रूपी कोमल पत्तों से युक्त यह तुम्हारा मुख ही नन्दन वन है । इस से अति-रिक्त दूसरा बाग़ तो जङ्गल ही (के समान) है ।

---

1. परिखेदिता=दुःखी, क्लेश युक्त, थकी हुई ।
2. आर्यपुत्रः=प्राणनाथ, आप । आर्य (=सज्जन, पूज्य, ससुर) का पुत्र ।
   संस्कृत नाटकों में स्त्रियां अपने पतियों को प्रायः इसी नाम से पुकारती हैं ।
3. 'अधर' प्रायः निचले होंठ के लिए प्रयुक्त होता है।
4. नन्दन=सब को आनन्द देने वाला; इन्द्र का प्रसिद्ध बाग़ ।

चेटी-(सस्मितं विदूषकं निर्दिश्य)

सुदं तुए, भट्टिदारिआ कहं वण्णिदेत्ति ।

श्रुतं त्वया; भर्तृदारिका कथं वर्णितेति ।

विदूषकः- (सस्मितम्) चउरिए! मा एव्वं गव्वं उव्वह ।

चतुरिके ! मैवं गर्वमुद्वह ।

अम्हाणं पि मज्झे दंसणीओ जणो अत्थि एव्व ।

अस्माकमपि मध्ये दर्शनीयो जनोऽस्त्येव ।

केवलं मच्छरेण को वि ण वण्णेदि ।

केवलं मत्सरेण कोऽपि न वर्णयति ।

चेटी-(सस्मितम्) अज्ज ! अहं तुमं वण्णामि ।

आर्य ! अहं त्वां वर्णयामि[1] ।

विदूषकः- (सहर्षम्) भोदि ! जीविदोम्हि । ता करेदु भोदि

भवति ! जीवितोऽस्मि । तत्करोतु भवती

पसादं, जेण एसो मं पुणोवि ण भणादि, जहा-

प्रसादं, येनैष मां पुनरपि न भणति, यथा-

तुमं ईरिसो तादिसो कविलमंकडाआरो त्ति ।

त्वमीदृशस्तादृशः कपिलमर्कटाकार इति ।

चेटी- अज्ज ! तुमं मए विआहजाअरणे णिद्दाअमाणो

आर्य ! त्वं मया विवाहजागरणे निद्रायमाणो

णिमीलिअ अच्छो सोहणो दिट्ठो । ता तह ज्जेव्व चिट्ठ,

निमीलिताक्षः शोभनो दृष्टः । तत्तथैव तिष्ठ,

जेण वण्णेमि ।

येन वर्णयामि ।

चेटी— (मुस्कराते हुए, विदूषक से) क्या तुम ने सुना किस प्रकार राजकुमारी का वर्णन किया गया है।

विदूषक— (मुस्कराते हुए) चतुरिका ! इस प्रकार गर्व न कर। हमारे बीच भी सुन्दर व्यक्ति है। केवल ईर्ष्या से कोई (उसका) वर्णन नहीं करता।

चेटी— (मुस्कराते हुए) आर्य ! मैं आप का वर्णन (गुणों की प्रशंसा, अथवा, रंगना) करती हूँ।

विदूषक— (हर्षपूर्वक) श्रीमति, मानों मैं जी पड़ा। अतः मुझ पर कृपा कीजिए जिस से यह फिर मुझे यह न कह सके कि 'तू ऐसा है, वैसा है, भूरे बन्दर की शकल वाला है' इत्यादि।

चेटी— आर्य ! विवाह में जागरण के समय आंखें बन्द कर के ऊंघते हुए आप मुझे बड़े सुन्दर दिखाई दे रहे थे। अतः उसी अवस्था में बैठे रहो ताकि मैं वर्णन करूं।

---

1. 'वर्णयामि' के दो अर्थ हैं। विदूषक इस का 'गुणों की प्रशंसा' अर्थ लेता है। परन्तु चेटी 'रंगना' अर्थ में इस का प्रयोग करती है।

2. मेरी जान में जान आ गई।

विदूषकः – (तथा करोति)

चेटी-(स्वगतम्)- जाव एसो णिमीलिअअच्छो चिट्ठदि

यावदेष निमीलिताक्षस्तिष्ठति,

दाव णीलरसाणुआरिणा तमालपल्लवरसेण मुहं से

तावन्नीलरसानुकारिणा तमालपल्लवरसेन मुखमस्य

कालीकरिस्सं ।

कालीकरिष्यामि ।

[उत्थाय तमालपल्लवग्रहणं तन्निपीडनं च नाटयति ।

नायको नायिका च विदूषकं पश्यतः]

नायकः- वयस्य ! धन्यः खल्वसि, योऽस्मासु[1] तिष्ठत्सु

त्वमेवं वर्ण्यसे ।

[चेटी तमालरसेन विदूषकस्य मुखं कालीकरोति,]

नायिका--[सस्मितं विदूषकं दृष्ट्वा नायकं पश्यति]

नायकः--(नायिकामुखं दृष्ट्वा)--

स्मितपुष्पोद्गमोऽयं ते दृश्यतेऽधरपल्लवे ।

[2]फलं त्वन्यत्रमुग्धाक्षि ! चक्षुषोर्मम पश्यतः[3] ॥ १२ ॥

विदूषकः— भोदे ! किं तुए किदं ?

भवति ! किं त्वया कृतम् ?

श्लोक नं : १२, अन्वयः—

(हे) मुग्धाक्षि ! अधरपल्लवे तेऽयं स्मितपुष्पोद्गमो दृश्यते ।

(परमस्य पुष्पोद्गमस्य) फलं तु अन्यत्र पश्यतः मम चक्षुषोः (जातम्) ।

विदूषक— (वैसा ही करता है)

चेटी— (मन ही मन) जब तक यह आँखें बन्द किए ठहरा है तब तक नीले रस के समान तमाल पत्र के रस से इस का मुंह काला करती हूँ।

[उठ कर तमाल पत्र को लेने तथा उसे निचोड़ने का अभिनय करती है। नायक तथा नायिका विदूषक को देखते हैं]

नायक— मित्र ! तुम सचमुच धन्य हो जो हमारे रहते हुए भी तुम्हारा (ही) इस तरह से वर्णन किया जा रहा है। (तुम रंगे जा रहे हो)। [चेटी तमाल रस से विदूषक के मुख को काला कर देती है]

नायिका— (मुस्कराते हुए विदूषक को देख कर नायक को देखती है)

नायक— (नायिका के मुख को देखकर —

हे सुन्दर आंखों वालो ! तुम्हारे होंठ रूपी कोमल पत्तों में यह मुस्कान रूपी फूलों का निकलना दिखाई दे रहा है। परन्तु (इस फूल का) फल तो कहीं और मुझ देखने वाले की आंखों में (हो रहा है)। (अर्थात् तुम्हारी मुस्कान को देखकर मेरी आंखें सफल हो गईं)

विदूषक— भद्रे ! तुमने क्या किया ?

---

1. सती सप्तमी।
2. यह साधारण नियम है कि जहां फूल लगता है फल भी वहीं लगता है; परन्तु स्मित रूपी फूल तेरे ओष्ठ रूपी पल्लव पर खिला है, परन्तु सफल (फलयुक्त) मेरी आंखें हो रही हैं। 'फल' पर श्लेष है— (i) फल, अथवा (ii) परिणाम। यहां फल, आंखों को होने वाला आनन्द है।
3. पश्यतः = दृश् + शतृ + पु० + षष्ठी एक वचन। 'मम' का विशेषण।

चेटी— णं वण्णिदोसि।

ननु वर्णिताऽसि ।

विदूषकः— (हस्तेन मुखं प्रमृज्य हस्तं दृष्ट्वा सरोषं दण्डकाष्ठमुद्यम्य) आः दासीए धीए ! राअउलं क्खु एदं। किं तव करिस्सं ?

आः दास्याः पुत्रि ! राजकुलं खल्वेतत् । किं तव करिष्यामि ?

(नायकमुद्दिश्य) भो ! तुम्हाणं पुरदो एव्व अहं दासीए-

भोः ! युवयोः पुरत एवाहं दास्याः-

धीआए खलीकिदो। ता किं मम इध ट्ठिदेण ? अण्णदो

पुत्र्या खलीकृतः[1] । तत्किं ममेह स्थितेन ? अन्यतो

गमिस्सं।

गमिष्यामि। [निष्क्रामति]

चेटी–कुविदो मे अज्जअत्तेओ, जाव णं गदुअ पसादइस्सं।

कुपितो मे आर्यात्रेयः, यावदेनं गत्वा प्रसादयिष्यामि।

[गन्तुमिच्छति]

नायिका—हञ्जे चदुरिए ! कहं मं एआइणीं उज्झिअ

हञ्जे चतुरिके ! कथं मामेकाकिनीमुज्झित्वा

गच्छसि ?

गच्छसि ?

चेटी—(नायकमुद्दिश्य सस्मितम्) एव्वं एआइणी चिरं होहि।

एवमेकाकिनी चिरं भव ।

[इति निष्क्रान्ता]

चेटी— सचमुच तुम्हारा वर्णन (रंगन) किया है।

विदूषक— (हाथ से मुंह पोंछ कर, हाथ को देखकर; क्रोध से डण्डा उठा कर) अरी दुष्टा! यह राजकुल है। तुम्हारा क्या करूँ? (नायक से) आप लोगों के सम्मुख ही इस नीच ने मेरा अपमान किया है। तो मेरे यहां ठहरने से क्या लाभ? कहीं और चला जाता हूँ। (निकल जाता है)

चेटी— आर्य आत्रेय मुझ से नाराज़ हो गए? अतः जाकर उन्हें मनाती हूँ। (जाना चाहती है)

नायिक— सखी चतुरिका! क्या मुझे इकेली छोड़ कर जा रहो हो?

चेटी— (नायक की ओर देखकर मुस्कराती हुई) ऐसी इकेली (तो) तू चिरकाल तक रह। [यह कह कर प्रस्थान]

---

1. खलीकृत = उल्लू बनाया गया हूँ। इस ने बुरा सलूक किया है।

नायकः — (नायिकाया मुखं पश्यन्)-

दिनकरकरामृष्टं बिभ्रत् द्युतिं परिपाटलां,
दशनकिरणैरुपसर्पद्भिः स्फुटीकृतकेसरम् ।
अयि मुखमिदं मुग्धे[1] ! सत्यं समं कमलेन ते,
मधु मधुकरः किन्त्वेतस्मिन् पिबन्न[2] विभाव्यते ॥१३॥

नायिका-(विहस्य मुखमन्यतो नयति) [नायकः तदेव पठति]

चेटी-(पटाक्षेपेण प्रविश्य, उपसृत्य) एसो क्खु अज्ज मित्तावसु
एष खल्वार्यमित्रावसुः
कज्जेण केण वि कुमारं पेक्खिदुं आअदो।
कार्येण केनापि कुमारं प्रेक्षितुमागतः ।

नायकः-प्रिये ! गच्छ त्वमात्मनो गृहम् । अहमपि मित्रावसुं दृष्ट्वा त्वरितमागत एव ।

नायिका — (चेट्या सह निष्क्रान्ता)

[ततः प्रविशति मित्रावसुः]

श्लोक नं: १३, अन्वयः—

अयि मुग्धे ! दिनकरकरामृष्टं परिपाटलां द्युतिं बिभ्रत् उपसर्पद्भिः दशनकिरणैः स्फुटीकृतकेसरम् इदं ते मुखं सत्यं कमलेन समम् ; किन्तु एतस्मिन् (मुखकमले) मधु पिबन् (कोऽपि) मधुकरः न विभाव्यते ॥

नायक—(नायिका के मुख को देखते हुए)—

हे मुग्धे ! (भोली, सुन्दरी) ! सूर्य की किरणों के सम्पर्क से लाल कान्ति को धारण करने वाला, निकलती हुई दांतों की किरणों से स्पष्ट दिखाई दे रहे केसर वाला, यह तेरा मुख सचमुच कमल के समान है, परन्तु इस पर मधु पीता हुआ (कोई) भौंरा नहीं दिखाई देता।

नायिका— (हँसकर मुख को दूसरी ओर कर लेती है)

[नायक वही दोहराता है]

चेटी– (पर्दा हटा कर प्रवेश करती हुई, पास जाकर) यह आर्य मित्रावसु किसी (आवश्यक) कार्य के लिए राजकुमार को मिलने आए हैं।

नायक– प्रिये ! तुम अपने घर जाओ। मै भी मित्रवसु से मिल कर शीघ्र ही आया।

नायिका–(चेटी के साथ प्रस्थान)

[मित्रावसु का प्रवेश]

---

1. मुग्धा = युवती; भोली; मोहित करने वाली; सुन्दरी।

2. नायक के कहने का अभिप्राय यह है कि मैं तेरे इस मुख कमल का भौंरे की तरह रसपान (चुम्बन) करना चाहता हूँ।

मित्रावसुः—अनिहत्य तं सपत्नं कथमिव जीमूतवाहनस्याहम्।
कथयिष्यामि हृतं तव राज्यं रिपुणेति निर्लज्जः ? ॥१४॥

अनिवेद्य च न युक्तं गन्तुमिति निवेद्य गच्छामि।

(इत्युपसर्पति)

नायकः—(मित्रवसुं दृष्ट्वा) - मित्रावसो ! इत आस्यताम्।

मित्रावसुः— (उपविशति)

नायकः— (निरूप्य)- मित्रावसो ! संरब्ध[1] इव लक्ष्यसे

मित्रावसुः— कः खलु मतङ्गहतके[2] संरम्भः ?

नायक— किं कृतं मतङ्गेन ?

मित्रावसुः— स्वनाशाय किल युष्मदीयं राज्यमाक्रान्तम्।

नायकः— (सहर्षमात्मगतम्) अपि नाम सत्यमेतत्स्यात् !

मित्रावसुः— अतस्तदुच्छित्तये आज्ञां दातुमर्हति कुमारः।
किं बहुना ?—

श्लोक नं०: १४, अन्वयः—

जीमूतवाहनस्य तं सपत्नम् अनिहत्य अहं निर्लज्जः कथं
कथयिष्यामि (यत्) तव राज्यं रिपुणा हृतम् इति ।

मित्रावसु– जीमूतवाहन के उस शत्रु को मारे बिना मैं निर्लज्ज बन कर

(इसे) कैसे कहूँ कि आपका राज्य शत्रु ने हर लिया है ?

और इसे यह सूचना दिए बिना जाना भी उचित नहीं, अतः

कह कर (ही) जाता हूँ।

नायक—(मित्रावसु को देखकर)– मित्रावसु ! इधर बैठिए !

मित्रावसु – (बैठ जाता है)

नायक – (अच्छी तरह देखकर) मित्रावसु ! कुछ घबराए हुए से

दीखते हो ?

मित्रावसु – दुष्ट मतङ्ग के विषय में क्या घबराहट (हो सकती है) ?

नायक – (क्यों) मतङ्ग ने क्या किया है ?

मित्रावसु–अपने नाश के लिए उसने आप के राज्य को हड़प लिया है।

नायक – (प्रसन्नता पूर्वक, मन ही मन) काश कि यह सच हो !

मित्रावसु– अतः उसके विनाश के लिए कुमार आज्ञा दें। अधिक क्या ?–

---

1. क्रुद्ध; जोश में; आवेश में; घबराए हुए।
2. 'हतक' समास के अन्त में आता है। अर्थ है 'दुष्ट', 'नीच'।

संसर्पद्भिः समन्तात्कृतसकलवियन्मार्गयानैर्विमानैः
कुर्वाणाः[1] प्रावृषीव स्थगितरविरुचः श्यामतां वासरस्य
एते याताश्च सद्यस्तव वचनमितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः,
सिद्धश्चोद्वृत्त[2]शत्रुक्षयभय[3]विनमद्राजकं ते स्वराज्यम् ॥१५॥

अथवा किं बलौघैः—

एकाकिनाऽपि हि मया रभसाऽवकृष्ट-
निस्त्रिंशदीधितिसटाभरभासुरेण।
आरान्निपत्य हरिणेव मतङ्गजेन्द्र-
[4]माजौ मतङ्गहतकं हतमेव विद्धि ॥ १६ ॥

नायकः-(कर्णौ पिधाय आत्मगतम्) अहह दारुणमभिहितम्।
अथवा एवं तावत्। (प्रकाशम्) मित्रावसो कियदेतत्?
बहुतरमतोपि [5]बाहुशालिनि त्वयि सम्भाव्यते।

श्लोक नं०: १५, अन्वयः—
समन्तात् संसर्पद्भिः कृतसकलवियन्मार्गयानैः विमानैः
प्रावृषीव स्थगितरविरुचः वासरस्य श्यामतां कुर्वाणाः
एते सिद्धाः तव वचनं प्राप्य इतः युद्धाय सद्यः याताश्च
उद्वृत्तशत्रुक्षयभयविनमद्राजकं ते स्वराज्यं सिद्धञ्च ॥

श्लोक नं०: १६, अन्वयः—
एकाकिनापि हि रभसावकृष्ट-निस्त्रिंशदीधितिसटाभरभासुरेण
मया आरात् निपत्य हरिणा इव मतङ्गजेन्द्रम् आजौ मतङ्गहतकं
हतमेव विद्धि।

आप की आज्ञा प्राप्त करके शीघ्र ही ये सिद्ध लोग अपने विमानों में चल पड़ेंगे जो आकाश में चारों तरफ़ उड़ते हुए वर्षा ऋतु के (बादलों के) समान सूर्य की किरणों को छुपा कर दिन को अन्धकारमय कर देंगे। (फिर) उद्दण्ड शत्रु (मतङ्ग) के मारे जाने पर (शेष) राजागण डरके मारे झुक जायेंगे और आप का राज्य सिद्ध (वश में) हो जाएगा।

अथवा, सेना के समूह की भी क्या आवश्यकता है ?—

वेग के साथ निकाली हुई तलवार की किरणों रूपी (शेर की गर्दन के) बालों से देदीप्यमान मुझ इकेले के द्वारा ही उस दुष्ट मतङ्ग को युद्ध में उसी तरह मारा गया ही समझो जैसे समीप से ही झपट कर शेर के द्वारा हाथियों का राजा।

नायक—(कान बन्द कर, मन ही मन) आह, (इसने) बड़े कठोर शब्द कहे हैं। अथवा, इस प्रकार कहता हूँ। (प्रकट) मित्रावसु ! (तुम्हारे आगे) यह (काम) कितना है ? तुम जैसे वीर से तो इस से भी बहुत अधिक सम्भव है।

---

1. ढकना; छिपाना; रोकना।
2. उद्वृत्त = गर्वित; उद्दण्ड; उच्छृङ्खल।
3. राजकं = राजाओं का इकट्ठ; राजागण।
4. आजि = युद्ध।
5. बड़ी भुजाओं वाला। जिस में भुज-बल अधिक है। वीर।

किन्तु—स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यादयाचितः कृपया।

राज्यस्य कृते[1] स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये ? ॥१७॥

अपि च, क्लेशान्[2] विहाय मम शत्रुबुद्धिरेव नान्यत्र।

यदि त्वमस्मत्प्रियं कर्तुमीहसे, तदनुकम्प्यतामसौ[3]

राज्यस्य कृते क्लेशदासीकृतस्तपस्वी।

मित्रावसुः— (सामर्षं सहासञ्च) कथं नानुकम्पनीय ईदृशो-

ऽस्माकमुपकारी, कृपणश्च[4]।

नायकः— (स्वगतम्) अनिवार्यसंरम्भः प्रत्यग्रकोपाक्षिप्तचेता

न तावदयं शक्यते निवर्तयितुम्। तदेवं तावत्।

(प्रकाशम्) मित्रावसो, उत्तिष्ठ, अभ्यन्तरमेव

प्रविशावः। तत्रैव त्वां बोधयिष्यामि। सम्प्रति

परिणतमहः। तथाहि—

श्लोक नं०: १७, अन्वय:

यः खलु अयाचितः (अपि) कृपया परार्थं स्वशरीरम् अपि दद्यात्

सः (अहं) राज्यस्य कृते कथं प्राणिवधक्रौर्यम् अनुमन्ये !

किन्तु—जो विना मांगे ही कृपा से दूसरे के हित के लिए अपना शरीर भी दे सकता है वह मैं राज्य के लिए कैसे जीवों को मारने की क्रूरता की अनुमति दे सकता हूँ ?

और भी, क्लेशों को छोड़ मैं किसी और को शत्रु ही नहीं मानता। यदि तुम मेरा हित करना चाहते हो तो राज्य के लिए क्लेशों का दास बनने वाले उस बेचारे (मतङ्गदेव) पर दया करो।

मित्रावसु— (क्रोध पूर्वक, हँसते हुए) (हाँ जी) हम पर उपकार करने वाले, ऐसे बेचारे ग़रीब पर दया क्यों नहीं करनी चाहिए ?

नायक— *(मन ही मन) (इस समय) यह बड़े जोश में हैं। ताज़ा ग़ुस्से से आक्रान्त चित्त वाले इस को रोकना सम्भव नहीं। तो इस प्रकार (कहता हूँ)—* (प्रकट) मित्रावसु ! उठो भीतर ही चलें। वहीं तुम्हें समझाऊँगा ! अब तो दिन ढल गया है। क्योंकि—

---

1. कृते = के लिए। इस के साथ षष्ठी का प्रयोग है।
2. क्लेश = पीड़ा, कष्ट, दुःख। बौद्ध शास्त्रों के अनुसार 'क्लेश' पाप हैं जो पाञ्च हैं; यथा— अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।
3. तपस्वी = दया का पात्र; बेचारा।
4. दूसरा पाठ 'कृतज्ञः' है जिस का अर्थ है 'किए हुए उपकार को मानने वाला।'

निद्रामुद्राऽवबन्धव्यतिकरमनिशं[1] पद्मकोशादपास्य-
न्नाशा[2]पूरैककर्मप्रवणनिजकरप्रीणिताशेषविश्वः ।
[3]दृष्टः सिद्धैः प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैरस्तमप्येष गच्छ-
न्नेकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः ॥१८॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति तृतीयोऽङ्कः

श्लोक नं: १८, अन्वय: —

पद्मकोशात् निद्रामुद्रावबन्धव्यतिकरम् अनिशम् अपास्यन्, आशापूरैककर्मप्रवणनिजकरप्रीणिताशेषविश्वः, अस्तमपि गच्छन् प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैः सिद्धैः दृष्टः, एष एकः विवस्वान् (एव) श्लाघ्यः, यस्य प्रयासः परहितकरणाय एव (भवति) ।

कमल के कोश से निद्रा की मुद्रा के बन्धन को लगातार दूर करने वाला (कमल को विकसित करके उसमें बन्द भौंरे को स्वतन्त्र करने वाला), आशाओं (दिशाओं अथवा इच्छाओं) को पूर्ण करने में लगी हुई अपनी किरणों से समग्र संसार को प्रसन्न करने वाला, अस्त होते हुए भी स्तुति से मुखरित मुखों वाले सिद्धों द्वारा दर्शन किए जाने वाला— यह एक सूर्य ही प्रशंसा के योग्य है जिस का (सारा) प्रयत्न दूसरों का हित करने के लिए ही (है)। [सब का प्रस्थान]

तीसरा अङ्क समाप्त

---

1. अनिशं=रात दिन; लगातार; सदा।
2. आशा = (i) दिशा; (ii) इच्छा।
3. प्राय: लोग उसी को स्तुति करते हैं जो उदय हो रहा है—उन्नति कर रहा है। परन्तु सूर्य की अस्त होते समय भी स्तुति हो रही है, क्योंकि वह परोपकारी है।

———

अथ चतुर्थोऽङ्कः।

[ततः प्रविशति कञ्चुकी गृहीतरक्तवस्त्रयुगलः, प्रतीहारश्च]

कञ्चुकी —

अन्तःपुराणां विहितव्यवस्थः[1] पदे पदे [2]संस्खलितानि रक्षन्।
जरातुरः सम्प्रति दण्डनीत्या सर्वं नृपस्यानुकरोमि वृत्तिम् ॥१॥

प्रतिहारः—आर्य वसुभद्र ! क्व नु खलु भवान् प्रस्थितः ?

कञ्चुकी—आदिष्टोऽस्मि देव्या मित्रावसुजनन्या 'कञ्चुकिन् ! दशरात्रं त्वया यावन्मलयवत्या जामातुश्च रक्तवासांसि नेतव्यानि' इति। दुहिता च श्वशुरकुले वर्तते। जीमूतवाहनोऽपि युवराजेन सह समुद्रवेलां द्रष्टुमद्य गत इति श्रूयते। तन्न जाने किं राजपुत्र्याः सकाशं गच्छामि अथवा जामातुरिति।

प्रतीहारः— आर्य ! वरं ! राजपुत्र्याः सकाशं गन्तव्यम्। तत्र हि कदाचिदस्यां वेलायां जामाता स्वयमेवागतो भविष्यति।

कञ्चुकी— साधूक्तम्। अथ भवान् पुनः क्व प्रस्थितः ?

श्लोक नं०: १, अन्वयः—

अन्तः पुराणां विहितव्यवस्थः, पदे पदे संस्खलितानि रक्षन्;
सम्प्रति जरातुरः दण्डनीत्या नृपस्य सर्वां वृत्तिम् अनुकरोमि।

चौथा अङ्क

[दो लाल वस्त्र लिए हुए कन्चुकी और द्वारपाल का प्रवेश]

कन्चुकी – अन्तःपुर (अथवा नगर के बीच) व्यवस्था करने वाला, पग पग पर ठोकरों को बचाता हुआ (अथवा, त्रुटियों या ग़लतियों का समाधान करता हुआ), अब वृद्धावस्था से विह्वल हुआ (हाथ में) डण्डा लेकर (अथवा दण्डनीति का आश्रय लेकर) मैं राजा के सारे आचरण या अनुकरण कर रहा हूँ।

प्रतीहार – आर्य वसुभद्र ! आप किधर चल पड़े हैं।

कन्चुकी— मित्रावसु की माता, महारानी जी, ने मुझे आज्ञा दी है कि "हे कन्चुकी ! दस रात तक आप मलयवती और दामाद (जीमूतवाहन) के पास (माङ्गलिक) लाल वस्त्र ले जाया करें"। पुत्री (मलयवती) तो ससुराल में है। और जीमूतवाहन भी सुना है कि युवराज (मित्रावसु) के साथ आज समुद्र-तट देखने गए हैं। अतः मेरी समझ में नहीं आता कि राजकुमारी के पास जाऊँ या दामाद के पास।

प्रतीहार—आर्य ! राजपुत्री के पास ही जाना ठीक होगा। सम्भवतः दामाद स्वयं भी इस समय तक वहीं आ गए होंगे।

कन्चुकी— तुमने ठीक कहा है। अच्छा, तो तुम किधर जा रहे हो ?

---

1. व्यवस्था = इन्तज़ाम, प्रबन्ध, अनुशासन।
2. अन्तःपुर, सँस्खलितानि, दण्डनीत्या- के दो दो अर्थ हैं, एक-कन्चुकी के साथ दूसरा राजा के साथ। देखिए अनुवाद।

नायकः– (आकर्ण्य) सम्यगुपलक्षितम्—

उद्गर्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धतः,
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिनीः।
उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथाऽयं तथा
प्रायः प्रेङ्खदसङ्ख्यशङ्खवलया वेलेयमागच्छति ॥२॥

मित्रावसुः– नन्वियमागतैव, पश्य—[4]

[3]कवलितलवङ्गपल्लवकरिमकरोद्गारिसुरभिणा पयसा,
एषा समुद्रवेला रत्नद्युतिरञ्जिता भाति ॥ ४ ॥

तदेतस्माज्जलप्रसरणमार्गादपक्रम्यानेनैव गिरितटानु-
समीपमार्गेण परिक्रमावः।

नायकः– मित्रावसो ! पश्य, पश्य, शरत्समयपाण्डुभिः पयोदपटलैः[5] प्रावृत्ताः प्रालेयाचलशिखरश्रियमुद्वहन्त्येते मलयसानवः।

मित्रावसुः– नैवामी मलयसानवः, नागानामस्थिसङ्घाताः[6] खल्वमी।

श्लोक न०: २, अन्वयः–उन्मज्जत् जलकुञ्जरेन्द्र रभसास्फालानुबन्धोद्धत
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः प्रतिध्वानिनी कुर्वन्
श्रुतिपथोन्माथी अयं ध्वनिः यथा उच्चैः उच्चरति
तथा प्रायः प्रेङ्खदसङ्ख्यशंखवलया इयं वेला आगच्छति ॥

श्लोक न० ४, अन्वयः–कवलितलवङ्गपल्लवकरिमकरोद्गारिसुरभिणा पयसा
रत्नद्युतिरञ्जिता, एषा समुद्रवेला भाति ॥

नायक (सुनकर)— आपने ठीक देखा है—

ज़ोर से गर्जने वाले जलहस्तियों के वेग से (किए गए) सूंडों के आघातों से प्रचण्ड, पर्वत की समस्त कन्दराओं को गूँजाता हुआ, कानों को बहरा करता हुआ यह शब्द जैसे ऊँचे स्वर में उठ रहा है उस से (जान पड़ता है) कि बहुत उछलते हुए असंख्य शंखों को धारण करने वाली यह समुद्रवेला (जल की बाढ़) आ रही है।

मित्रावसु—यह तो सचमुच आ ही गई। देखिए—

लवङ्ग (लौंग) के कोमल पत्तों को खाने वाले जलहस्तियों तथा मगरमच्छों के उद्गार से सुगन्धित जल के साथ, रत्नों की प्रभा से देदीप्यमान यह समुद्रवेला (बाढ़) सुशोभित है।

अत: आइए पानी के फैलने के इस मार्ग से हट कर इस पहाड़ की चोटी के पास वाले रास्ते से चलें।

नायक—मित्रावसु ! देखो, देखो; शरत्काल के श्वेत बादलों के समूह से ढकी हुई मलय पर्वत की चोटियां हिमालय की चोटियों की शोभा को धारण कर रही हैं।

मित्रावसु— यह मलय पर्वत की चोटियां नहीं हैं। ये तो सांपों की हड्डियों के ढेर हैं।

---

1. प्राय:= सम्भवत: ; शायद। अथवा, बहुत.—'प्रेङ्खत्' का क्रिया-विशेषण।
2. वेला= जल की बाढ़। ज्वार भाटा।
3. कवलित= खाए हुए।
4. उद्गार=वमन। जो मुहँ से निकाला जाए। अथवा, श्वास, सांस।
5. प्रालेय=हिम; बर्फ़। प्रालेयाचल=हिमाचल. हिमालय।
6. सङ्घात=समूह; इकट्ठ।

नायकः– (सोद्वेगम्) कष्टम् ! किं निमित्तममी सङ्घात-
मृत्यवो जाताः ?

मित्रावसुः– कुमार ! नैवामी सङ्घातमृत्यवः । श्रूयतां यथैतत् ।
पुरा किल स्वपक्षपवनापास्तसमस्तसागरजलस्तरसा रसातलादुद्धृत्य भुजङ्गमाननुदिनमाहारयति स्म वैनतेयः ।

नायकः– (सोद्वेगम्) कष्टम् ! अतिदुष्करं करोति । ततस्ततः ।

मित्रावसुः– ततः सकलनागविनाशाशङ्किना[1] वासुकिना गरुत्मानभिहितः ।

नायकः– ([2]सादरम्) किं 'मां प्रथमं भक्षय' इति ?

मित्रावसुः – न हि, न हि ।

नायकः— किमन्यत् ?

मित्रावसुः — इदमुक्तम्–'त्वदभिसम्पातसन्त्रासात्[3]सहस्रशः स्रवन्ति [4]भुजङ्गमाङ्गनानां गर्भाः, शिशवश्च पञ्चत्व[5]-मुपयान्ति। एवञ्च सन्ततिविच्छेदादस्माकं तवैव स्वार्थ-हानिर्भवेत् । यदर्थमभिपतति भवान्नागलोकं तमिह नागमेकैकमनुदिनं प्रेषयामि ।'

नायकः– कष्टमेवं रक्षिता नागराजेन पन्नगाः ।

नायक— (उद्वेग पूर्वक) आह ! बड़े दुःख की बात है। किस कारण इन की एक साथ मृत्यु हुई है ?

मित्रावसु—कुमार ! यह एक साथ नहीं मरे। सुनिए, यह जैसे (हुआ)। प्राचीनकाल में, अपने पंखों की वायु से समुद्र के सम्पूर्ण जल को हटा कर, गरुड़ वेग के साथ पाताल से सांपों को निकाल कर प्रतिदिन खाया करता था।

नायक— (उद्वेग पूर्वक) हाय ! बहुत बुरा किया ! तो, फिर ?

मित्रावसु— तब सब सांपों के नाश की शङ्का करने वाले वासुकि ने गरुड़ से कहा—

नायक— (आदर पूर्वक)- कि "(इन से) पहिले मुझे खाओ ?"

मित्रावसु— नहीं, नहीं।

नायक— और क्या (कहा) ?

मित्रावसु— यह कहा कि हे गरुड़) ! आप की झपट के डर से हज़ारों नागस्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं और बच्चे मर जाते हैं। इस प्रकार हमारी सन्तान के नाश से आप के ही स्वार्थ की हानि होगी। (अतः) जिस लिए आप नागलोक पर आक्रमण करते हैं उस (उद्देश्य की पूर्ति) के लिए यहीं एक एक सांप प्रति दिन मैं भेज दिया करूँगा।"

नायक— आह ! इस प्रकार वासुकि ने सांपों की रक्षा की ?

---

1. शङ्क=शक, डर, भय। 2. आदर=उत्कंठा के अर्थ में।

3. अभिसम्पात=आक्रमण, झपटा; किसी पर टूट पड़ना; ऊपर से ज़ोर से गिरना। 4. भुजगः भुजंगः, भुजंगमः तीनों का एक ही अर्थ है। इसी प्रकार तुरगः, तुरंगः तुरंगमः का।

5. जिन पांच तत्वों से शरीर बना है, उन्हीं में मिल जाना, अर्थात् मर जाना।

जिह्वासहस्रद्वितयस्य[1] मध्ये नैकापि सा तस्य किमस्ति जिह्वा।
एकाहिरक्षार्थमहिद्विषेऽद्य दत्तो मयात्मेति यया ब्रवीति ॥५॥

मित्रावसुः- प्रतिपन्नं तत् पक्षिराजेन—

इत्येष भोगिपतिना विहितव्यवस्थो[2]
यान् भक्षयत्यहिपतीन् पतगाधिराजः।
यास्यन्ति यान्ति च गताश्च दिनैर्विवृद्धिं,
तेषाममी तुहिनशैलरुचोऽस्थिकूटाः ॥६॥

नायकः— आश्चर्यम् !!!

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य[3] विनाशिनः।
शरीरकस्यापि[4] कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥ ७ ॥

श्लोक नं०: ५, अन्वयः—
किं जिह्वासहस्रद्वितयस्य मध्ये तस्य एका अपि सा जिह्वा नास्ति, यया (स) ब्रवीति—"एकाहिरक्षार्थम्, अहिद्विषे मया आत्मा दत्तः" इति।

श्लोक नं०: ६, अन्वयः—
इति भोगपतिना विहितव्यवस्थः एष पतगाधिराजः यान् अहिपतीन् भक्षयति तेषां तुहिनशैलरुचः अमी अस्थिकूटाः दिनैः विवृद्धिं गताः, यान्ति च, यास्यन्ति च"

श्लोक नं०: ७, अन्वयः—
सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते :

क्या उस की दो हज़ार जिह्वाओं मे से एक भी जिह्वा ऐसी न थी जिस से वह कह सकता कि 'एक सांप की रक्षा के लिए मैं अपने आप को गरुड़ के हवाले करता हूँ ?'

मित्रावसु— गरुड़ ने इसे स्वीकार कर लिया।—

इस प्रकार वासुकि से व्यवस्था करके यह पक्षिराज गरुड़ जिन बड़े बड़े सांपों को खाता रहा है उन के— बर्फ़ के पहाड़ की शोभा को धारण करने वाले – ये हड्डियों के ढेर दिन प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त हुए हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे।

नायक —कितने आश्चर्य की बात है !!!

सब अपवित्रताओं के घर, कृतघ्न और नाशवान् इस निकम्मे शरीर के लिए भी मूर्ख लोग पाप कमाते हैं ! आह ! दुःख की

---

1. द्वितय=जोड़ा। जिह्वाओं के हज़ार जोड़े। सांप की जिह्वा बीच में से कटी होने के कारण दो जिह्वाएँ गिनी जाती हैं।
2. व्यवस्था=इन्तज़ाम, प्रबन्ध, फ़ैसला; समझौता।
3. शरीर को कृतघ्न इस लिए कहा है कि चाहे कितना ही सेवा करके बना कर उसे रखा जाए, फिर भी एक न एक दिन वह हमें धोखा देकर छोड़ जाता है।
4. "क" अकिञ्चन, नाचीज़, निकम्मा के अर्थ में लगा है। 'क' घृणा अथवा निन्दा के योग में।

अहो ! कष्टमनवसानेयं[1] विपत्तिर्नागानाम् । (आत्मगतम्)
अपि शक्नुयामहं स्वशरीरसमर्पणेन एकस्यापि नागस्य
प्राणपरिरक्षां कर्तुम् ।

[ततः प्रविशति प्रतिहारः]

प्रतीहारः— आरूढोऽस्मि गिरिशिखरं, यावन्मित्रावसुमन्वि-
ष्यामि । (परिक्रम्य) अयं मित्रावसुर्जामातुः समीपे
तिष्ठति । (उपसृत्य) विजयेतां कुमारौ ।

मित्रावसुः—सुनन्द ! किं निमित्तमिहागमनम् ?

प्रतीहारः— (कर्णे कथयति)

मित्रावसुः—कुमार ! तातो मामाह्वयति ।

नायकः गम्यताम् ।

मित्रावसुः— कुमारेणापि बहुप्रत्यवाये[2]ऽस्मिन् प्रदेशे न चिरं
स्थातव्यम् ! [इति निष्क्रान्तः]

नायकः—यावदहमप्यस्माद्गिरिशिखरादवतीर्य समुद्रतटम-
वलोकयामि । [परिक्रामति]

[नेपथ्ये]— हा पुत्तअ संखचूड़ ! कहं वावादिअमाणो अज्ज
हा पुत्रक[3] शङ्खचूड़ ! कथं व्यापाद्यमानोऽद्य

किल तुमं मए पेक्खिदव्वो ?
किल त्वं मया प्रेक्षितव्यः ?

नायकः—(आकर्ण्य) अये योषित इवार्तप्रलापः । 'केयं !
कुतो वास्या भयमिति स्फुटीकरिष्ये । (परिक्रामति)

बात तो यह है कि नागों की यह विपत्ति (कभी) समाप्त होने वाली नहीं। (मन ही मन) कदाचित् मैं अपना शरीर देकर एक भी सांप की प्राण रक्षा कर सकूँ !

[द्वारपाल का प्रवेश]

प्रतीहार— पर्वत की चोटी पर तो चढ़ आया हूँ। तब मित्रावसु को ढूँढता हूँ। (घूमकर) यह मित्रावसु दामाद (जीमूतवाहन) के समीप ठहरे हैं। (पास जाकर) राजकुमार की जय हो।

मित्रावसु— सुनन्द ! यहां किस कारण आना हुआ ?

प्रतीहार—(कान में कहता है)।

मित्रावसु— कुमार ! पिता जी मुझे बुला रहे हैं।

नायक— तो जाइए।

मित्रावसु— आप को भी बहुत से कष्टों से भरे हुए इस स्थान में देर तक नहीं ठहरना चाहिए।

[प्रस्थान]

नायक— तो मैं भी इस पर्वत शिखर से उतर कर समुद्रतट को देखता हूँ। [घूमता है]

[नेपथ्य में (पर्दे के पीछे से)] हाय बच्चे शङ्खचूड़ ! क्या आज मैं तुम्हें मारे जाते हुए देखूँगी ?

नायक— (सुन कर) अरे, यह तो किसी स्त्री का करुण विलाप सा है। यह कौन है ? या इसे कहां से डर है, यह स्पष्ट मालूम करता हूँ। (घूमता है)

---

1. अनवसाना=जिस का अवसान (अन्त) ही न हो।
2. प्रत्यवाय= रुकावट; विघ्न; आपत्ति; कष्ट।
3. यह 'क' प्यार के अर्थ में प्रयुक्त है।

[ततः प्रविशति रुदत्या वृद्धयोनुगम्यमानः शङ्खचूडो गोपायितवस्त्रयुगलश्च किङ्करः]

वृद्धा–(सास्रम्) हा पुत्तअ संखचूड़ ! कहं वावादिअमाणो अज्ज
हा पुत्रक शङ्खचूड़ ! कथं व्यापाद्यमानोऽद्य
किल तुमं मए पेक्खिदव्वो ? (चिबुकं गृहीत्वा)
किल त्वं मया प्रेक्षितव्यः ?
इमिणा मुहचंदेण विरहिअं दाणीं अंधआरीभविस्सदि
अनेन मुखचन्द्रेण विरहितमिदानीमन्धकारीभविष्यति
पाआलं।
पातालम्।

शङ्खचूड़ः– अम्ब ! किमिति वैक्लव्येन सुतरां नः पीडयसि ?

वृद्धा–(निर्वर्ण्य पुत्रस्याङ्गानि स्पृशन्ती) हा पुत्तअ ! कहं दे अदिट्ठ-
हा पुत्रक ! कथं तेऽदृष्ट-
सूरकिरणं सुउमारं सरीरं णिग्घिणहिअओ गलुडो
सूर्यकिरणं सुकुमारं शरीरं [1]निर्घृणहृदयो गरुड़
आहालइस्सदि ?
आहारयिष्यति ? [कण्ठे गृहीत्वा रोदिति]

शङ्खचूड़ः– अम्ब ! अलं[2] परिदेवितेन। पश्य–

1

[पीछे पीछे आ रही रोती हुई बुढ़िया के साथ शङ्खचूड़ और दो वस्त्रों को छिपाए हुए नौकर का प्रवेश]

वृद्धा— (आँसुओं के साथ) – हाय बच्चे शङ्खचूड़ ! क्या आज मुझे तुम्हें मारे जाते हुए को देखना होगा ? (ठुड्डी पकड़ कर) इस मुखचन्द्र के विना आज पाताल लोक अन्धकारमय हो जाएगा ।

शङ्खचूड़— माता जी ! इस प्रकार की व्याकुलता से आप मुझे और अधिक पीड़ा क्यों दे रही है ?

वृद्धा— (अच्छी तरह देखकर, पुत्र के अङ्गों को छूती हुई) हाय पुत्र ! जिसने कभी सूर्य की किरणों को नहीं देखा ऐसे तेरे इस कोमल शरीर को क्रूर हृदय वाला गरुड़ कैसे खाएगा ?

[गले लगाकर रोती है]

शङ्खचूड़—माता जी ! बस, (इस) विलाप को रहने दीजिए । देखिए—

---

1. निर्घृण= दयाहीन, निर्दयी, क्रूर ।

2. अलं=बस, बस । इस अर्थ में अलम् के साथ तृतीया आती है ।

मालापः। कदाचिदत एवास्याभिव्यक्तिर्भविष्यति।
तद्विटपान्तरितस्तावच्छृणोमि [तथा करोति]

किङ्करः-(सास्रम् कृताञ्जलिः) कुमाल संखचूड ! एसो
कुमार शङ्खचूड ! 'एष

सामिणो आदेशो त्ति करिअ ईरिसं णिट्ठुरं मन्तीअदि।
स्वामिन आदेश' इति कृत्वा ईदृशं निष्ठुरं मन्त्र्यसे।

शङ्खचूड़ः- भद्र ! कथय।

किङ्करः— नागलाओ वासुई आणवेदि—
नागराजो वासुकिराज्ञापयति—

शङ्खचूड़ः-(शिरस्यञ्जलिं बद्ध्वा सादरम्) किमाज्ञपयति देवः?'

किङ्करः— 'एदं लत्तंसुअजुअलं परिहिअ आलुह वज्झसिलं
इदं रक्तांशुकयुगलं परिधाय आरोह वध्यशिलां,

जेण लत्तंसुअं उवलक्खिअ गलुडो आहालइस्सदि त्ति।
येन रक्तांशुकमुपलक्ष्य[1] गरुड़ आहारयिष्यति इति।

नायकः — (श्रुत्वा) कथमसौ वासुकिना परित्यक्तः ?

किङ्करः— कुमाल ! गेण्ह एदं वसणजुअलं।
कुमार ! गृहाणैतद्वसनयुगलम्। [इत्यर्पयति]

शङ्खचूडः-(सादरम्) उपनय। (गृहीत्वा) शिरसि स्वाम्यादेशः।

वृद्धा- (पुत्रस्य हस्ते वाससी दृष्ट्वा सोरस्ताडम्) हा वच्छ!
हा वत्स!

एदं क्खु वज्जपाडसण्णिभं संभावीअदि।
इदं खलु वज्रपातसन्निभं सम्भाव्यते [मोहं गता]

इस वृक्ष के पीछे छिप कर सुनता हूँ। [वैसा ही करता है]

सेवक— (आँसुओं के साथ, हाथ जोड़ कर) कुमार शङ्खचूड़ ! यह स्वामी की आज्ञा है इसी लिए आप से यह कठोर वचन कह रहा हूँ !

शङ्खचूड़— आर्य, कहिए।

सेवक— नागों के राजा वासुकि ने आज्ञा दी है कि—

शङ्खचूड़— (सिर पर हाथ जोड़ कर, आदर पूर्वक) महाराज ने क्या आज्ञा दी है ?

सेवक— "यह दोनों लाल वस्त्र पहिन कर वध्यशिला पर चढ़ जाओ जिससे लाल वस्त्र को पहिचान कर गरुड़ तुम्हें खा लेगा।"

नायक— (सुनकर) क्या वासुकि ने इसे त्याग दिया ?

सेवक— कुमार ! लो यह दोनों वस्त्र। [यह कह कर देता है]

शङ्खचूड़— (आदर पूर्वक) लाओ। (लेकर) स्वामी की आज्ञा सिर माथे पर (शिरोधार्य है)।

वृद्धा— [पुत्र के हाथ में दोनों (लाल) वस्त्र देखकर, छाती पीटती हुई]— हाय, बच्चे ! यह तो (मुझे) वज्रपात के समान मालूम पड़ता है। [मूर्छित हो जाती है]

---

1. देखकर, पहिचान कर।

किङ्करः— आसण्णा गलुडस्स आगमणवेला, ता लहुं

आसन्ना गरुड़स्यागमनवेला, तल्लघु

गच्छामि ।

गच्छामि । [इति निष्क्रान्तः]

शङ्खचूड़ः— अम्ब ! समाश्वसिहि ।

वृद्धा— (समाश्वस्य, सास्रं) हा पुत्तअ ! हा मणोरहसदलद्ध !

हा पुत्रक ! हा मनोरथशतलब्ध !

कहिं पुणा तुमं पेक्खिस्सं ?

क्व पुनस्त्वां प्रेक्षिष्ये ? [कण्ठे गृह्णाति]

नायकः—अहो नैर्घृण्यं[1] गरुड़स्य ! अपि च—

मूढाया मुहुरश्रुसन्ततिमुचः कृत्वा प्रलापान्[2] बहून्

कस्त्राता तव पुत्रकेति, कृपणां दिक्षु[3] क्षिपन्त्या दृशम् ।

अङ्के मातुरवस्थितं शिशुमिमं त्यक्त्वा घृणामश्नत-

श्चञ्चुर्नैव खगाधिपस्य, हृदयं वज्रेण मन्ये कृतम् ॥९॥

शङ्खचूड़ः—(मातुरश्रूणि निवारयन्) अम्ब ! किमतिवैक्लव्येन ?

श्लोक नं: ९, अन्वयः—

मूढायाः, मुहुरश्रुसन्ततिमुचः, 'कस्त्राता तव पुत्रक' इति बहून् प्रलापान् कृत्वा दिक्षु कृपणां दृशं क्षिपन्त्याः मातुः अङ्के अवस्थितं इमं शिशुं घृणां त्यक्त्वा अश्नतः खगाधिपस्य नैव चञ्चुः हृदयम् (अपि) मन्ये वज्रेण कृतम् ।

सेवक— गरुड़ के आने का समय समीप ही है। अतः मैं शीघ्र ही जाता हूँ। [प्रस्थान]

शङ्खचूड़— माता जी, धीरज धरो।

वृद्धा— (होश में आकर, आंसुओं के साथ) आह, पुत्र! सैंकड़ों मनोरथों से प्राप्त (बच्चे)! फिर मैं तुम्हें कहां देखूँगी?

[गले लगाती है]

नायक— अहो गरुड़ की निर्दयता! और भी—

शोक से विमोहित, बार बार आँसुओं की धारा बहाती हुई, 'हे पुत्र! तुझे कौन बचाएगा' इस प्रकार बहुत से प्रलाप कर के चारों ओर कातर दृष्टि दौड़ाती हुई माता की गोद में ठहरे हुए इस बच्चे को दया छोड़ कर खाने वाले पक्षिराज गरुड़ की केवल चोंच ही नहीं वरन् हृदय भी मेरे विचार में वज्र का बना हुआ है।

शङ्खचूड़ — (माता के आंसू पोंछता हुआ)– माता जी! इतनी अधिक व्याकुलता से क्या लाभ?

---

1. नैर्घृण्यं = दया से रहित होना; निर्दयता; क्रूरता।
2. प्रलाप = विलाप। चीख़ पुकार।
3. कृपणां दृशम् = कातर दृष्टि। करुणा उत्पन्न करने वाली।

यैरत्यन्तदयापरैर्न विहिता वन्ध्यार्थिनां प्रार्थना,
यैः कारुण्यपरिग्रहान्न गणितः स्वार्थः परार्थं प्रति।
ये नित्यं परदुःखदुःखितधियस्ते साधवोऽस्तं गता,
मातः ! संहर वाष्पवेगमधुना कस्याग्रतो रुद्यते ॥१०॥

ननु समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

वृद्धा—(सास्रम्) कहं समस्ससिस्सं ? किं एकपुत्तओ त्ति
कथं समाश्वसिष्यामि ? किमेकपुत्रक इति
कदुअ साणुकंपेण णाअराएण पेसिदोसि ? हा कहं
कृत्वा सानुकम्पेन नागराजेन प्रेषितोऽसि ? हा ! कथम्
अविच्छिण्णे जीअलोए मम पुत्तओ सुमरिदो ?
विच्छिन्ने[1] जीवलोके मम पुत्रकः स्मृतः ?
सव्वधा अहं म्हि मंदभग्गा।
सर्वथाहमस्मि मन्दभाग्या। [मूर्च्छति]

नायकः-(सकरुणम्) आर्तं कण्ठगतप्राणं,[2] परित्यक्तं वन्धुभिः।
त्राये[3] नैनं यदि ततः कः शरीरेण मे गुणः ? ॥ ११ ॥

श्लोक नं०: १०, अन्वयः—
यैः अत्यन्तदयापरैः अर्थिनां प्रार्थना, वन्ध्या न विहिता, यैः कारुण्य-परिग्रहात् परार्थं प्रति स्वार्थः न गणितः, ये नित्यं परदुःख-दुःखितधियः, ते साधवः अस्तं गताः। मातः ! अधुना वाष्पवेगं संहर। कस्य अग्रतो रुद्यते ?

श्लोक नं०: ११, अन्वयः—
यदि (अहं) वन्धुभिः परित्यक्तं कण्ठगतप्राणम्
एनम् आर्तं न त्राये, ततः मे शरीरेण कः गुणः ?

जिन अत्यन्त दयालु पुरुषों ने याचकों की प्रार्थना को कभी निष्फल नहीं जाने दिया, जिन्हों ने करुणा को ग्रहण करने के कारण परोपकार के आगे स्वार्थ को कुछ नहीं गिना, जो दूसरों के दु:ख से दु:खी होते थे वे सज्जन लोग अस्त हो गए (मर गए)। (अत:) माता जी! अब अपने आंसुओं के वेग को रोको। किस के आगे रो रही हो ? अतः धीरज धरो।

वृद्धा— (आंसुओं के साथ) कैसे धीरज धरूँ ? क्या तुम इकलौते बेटे हो इसी लिए कृपालु नागराज ने तुम्हें (बलि के लिए) भेजा है ? हाय, समग्र जीवलोक के रहते हुए मेरा पुत्र ही क्यों याद किया गया ? मैं सब प्रकार से अभागिन हूँ। [मूर्च्छित हो जाती है]

नायक—(दया पूर्वक) यदि मैं बन्धुओं से छोड़े गए, कंठगत प्राण वाले इस दु:खी को नहीं बचाता तो मेरे शरीर का क्या लाभ ?

---

1. अविच्छिन्न = अखण्डित। जिस का कुछ नहीं बिगड़ा। जो लगातार क़ायम है। अत: सम्पूर्ण, समग्र।
2. जिस के प्राण गले तक आ गए हैं। मृतप्राय। जो अभी मरने वाला है।
3. त्राये = त्रै (भ्वादिगण आत्मने पद) + लट् + उत्तमपुरुष + एक वचन। (बचाना) —बचाता हूँ।

शङ्खचूडः—अम्ब ! [1]अलं त्रासेन । न खल्वयं नागशत्रुः । पश्य-

[2]

महाहिमस्तिष्कविभेदमुक्तरक्तच्छटाचर्चितचण्डचञ्चुः ।

क्वासौ गरुत्मान् ? क्व च नाम सौम्यस्वभावरूपाकृतिरेष साधुः ॥१३॥

वृद्धा - अह क्खु तुज्झ मरणभीआ सव्वं जेव्व लोअं गलुडमअं

अहं खलु तव मरणभीता सर्वमेव लोकं गरुड़मयं[3]

पेक्खामि ।

प्रेक्षे ।

नायकः— अम्ब ! मा भैषीः । नन्वयमहं विद्याधरस्तवसुत-

संरक्षणार्थमेवायातः ।

वृद्धा—(सहर्षम्) पुत्तअ ! पुणो पुणो एव्वं भण ।

पुत्रक ! पुनः पुनरेवं भण । [4]

नायकः—अम्ब ! किं पुनःपुनरभिहितेन ? ननु कर्मणैव सम्पादयामि

वृद्धा—(शिरस्यञ्जलिं बद्ध्वा) पुत्तअ ! चिरं जीव ।

पुत्रक ! चिरं जीव ।

नायकः—ममैतदम्बार्पय वध्यचिह्नं प्रावृत्य यावद्विनतात्मजाय ।

पुत्रस्य ते जीवितरक्षणाय स्वदेहमाहारयितुं ददामि ॥१४॥

श्लोक नं०: १३, अन्वयः—

क्व महाहिमस्तिष्कविभेदमुक्तरक्तच्छटाचर्चितचण्डचञ्चुः

असौ गरुत्मान् ? क्व च नाम सौम्यस्वभावरूपाकृतिः एष साधुः ?

श्लोक नं०: १४, अन्वयः—

अम्ब ! एतद् वध्यचिह्नं मम अर्पय; यावद् (अनेन) प्रावृत्य,

ते पुत्रस्य जीवितरक्षणाय, विनतात्मजाय आहारयितुं स्वदेहं ददामि ।

शङ्खचूड़— माता जी डर को रहने दो। यह नागशत्रु गरुड़ नहीं है। देखिए— कहां तो बड़े बड़े सांपों के मस्तकों को फाड़ने से निकले हुए खून की धाराओं से लिप्त भयानक चोंच वाला वह गरुड़, और कहां शान्त स्वभाव तथा सुन्दर रूप और आकृति वाला यह साधु पुरुष ?

वृद्धा— मैं तो तुम्हारी मृत्यु से डरी हुई सारे संसार को गरुड़मय देख रही हूँ।

नायक— माता ! मत डरो। यह मैं एक विद्याधर हूँ (जो) तुम्हारे पुत्र की रक्षा करने के लिए ही आया हूँ।

वृद्धा— (हर्ष पूर्वक)- पुत्र ! बार बार ऐसा (ही) कहो।

नायक—माता ! बार बार कहने से क्या ? मैं कार्य द्वारा ही सिद्ध करता हूँ।

वृद्धा—(सिर पर हाथ जोड़ कर) पुत्र चिरंजीवी होवो।

नायक— माता ! यह वध्यचिह्न (मरने का निशान-लाल वस्त्र) मुझे दो जबतक इस से ढक कर, तुम्हारे पुत्र की जीवन रक्षा के लिए, गरुड़ को खाने के लिए मैं अपना शरीर दे दूँगा।

---

1. अलं = काफ़ी; बस; हटो; छोड़ो। इस अर्थ में 'अलं' के साथ तृतीया आती है।
2. छटा = लगातार लाइन-धारा।
3. सब को गरुड़ ही समझती हूँ।
4. काम से कर के दिखाऊँगा। 5. प्रावृत्य = ढक कर, लपेटकर।

वृद्धा—(कर्णौ पिधाय) पडिहदं अमंगलं। तुमं पि संखचूड-
प्रतिहतममङ्गलम् । त्वमपि शङ्खचूड-
णिव्विसेसो पुत्तो। अहवा संखचूडादो वि अहिअअरो,
निर्विशेषः[1] पुत्रः । अथवा शङ्खचूडादप्यधिकतरः ,
जो एव्वं बंधुजणपरिच्चत्तं वि पुत्तअं मे सरीरपदाणेण
य एवं बन्धुजनपरित्यक्तमपि पुत्रकं मे शरीरप्रदानेन
रक्खिदुमिच्छसि।
रक्षितुमिच्छसि ।

शङ्खचूडः—अहो! जगद्विपरीतमस्य महासत्त्वस्य चरितम्। कुतः
विश्वामित्रः श्वमांसं श्वपच इव पुराभक्षयद्यन्निमित्तं,
नाडीजङ्घो निजघ्ने कृततदुपकृतिर्यत्कृते गौतमेन।
पुत्रोऽयं काश्यपस्य प्रतिदिनमुरगानत्ति तार्क्ष्यो यदर्थं,
प्राणांस्तानेष साधुस्तृणमिव कृपया यः परार्थं ददाति॥१५
(नायकमुद्दिश्य)—भो महासत्त्व! त्वया दर्शितैवात्मप्रदान-
व्यवसायान्निर्व्याजा मयि कृपालुता। तदलमनेन
निर्बन्धेन। पश्य—

श्लोक नं: १५, अन्वय:—

यन्निमित्तं विश्वामित्रः श्वपच इव पुरा श्वमांसं अभक्षयत्,
यत्कृते गौतमेन कृततदुपकृतिः नाडीजङ्घो निजघ्ने,
यदर्थं काश्यपस्य अयं पुत्रः तार्क्ष्यः प्रतिदिनम् उरगान् अत्ति,
तान् प्राणान् यः एष साधुः कृपया परार्थं तृणमिव ददाति।

द्रा— (दोनों कान बन्द करके) अमंगल नष्ट हो ! तुम भी शङ्खचूड़ के समान ही पुत्र हो। अथवा, शङ्खचूड़ से भी बढ़ कर जो इस प्रकार बान्धवों से त्यागे गए भी मेरे पुत्र को अपना शरीर दे कर बचाना चाहते हो।

शङ्खचूड़— अहो ! इस महात्मा का चरित्र संसार से विपरीत है :

क्योंकि— जिन (प्राणों) के लिए विश्वामित्र ने प्राचीन काल में चाण्डाल की तरह कुत्ते का मांस खाया था, जिन (प्राणों) के लिए गौतम ने अपने उपकारी नाड़ीजंघ को मार डाला था, जिन के लिए कश्यप का यह पुत्र तार्क्ष्य (गरुड़) प्रति दिन सांपों को (मार कर) खा जाता है, उन्हीं प्राणों को जो यह सज्जन पुरुष दया से दूसरे के लिए तृण की तरह दे रहा है।

(नायक से) हे महात्मन् ! आप ने अपने शरीर के अर्पण करने के निश्चय से मेरे प्रति निष्कपट दया दिखा दी। अतः इस आग्रह को रहने दीजिए। देखिए—

---

1. निर्विशेष = अभिन्न; सदृश।
2. श्वपच: = चांडाल, शूद्र।
3. मारा गया था।

६।
कचाहट।
पुरुष + एक

जायन्ते च म्रियन्ते च मादृशाः [1]क्षुद्रजन्तवः ।
परार्थे [2]बद्धकक्षाणां त्वादृशामुद्भवः कुतः[3] ॥ १६ ॥

तत् किमनेन निर्बन्धेन? मुच्यतामयमध्यवसायः[4] ।

नायकः—शङ्खचूड़! न मे चिरात्लब्धावसरस्य परार्थसम्पादनामनोरथस्यान्तरायं कर्तुमर्हसि । तदलं [5]विकल्पेन । दीयतामेतद्वध्यचिह्नम् ।

शङ्खचूड़ः—भो महासत्त्व! किमनेन वृथात्मायासेन? न खलु शङ्खधवलं शङ्खपालकुलं शङ्खचूडो मलिनीकरिष्यति । यदि ते वयमनुकम्पनीयास्तदियमस्मद्विपत्तिविक्लवा न यथा जीवितं जह्यात्[6], तथाभ्युपायश्चिन्त्यताम् ।

नायकः—किमत्र चिन्त्यते? चिन्तित एवाभ्युपायः । स तु त्वदायत्तः ।

शङ्खचूड़ः—कथमिव?

नायकः—म्रियते म्रियमाणे या त्वयि, जीवति जीवति ।
तां यदीच्छसि जीवन्तीं, रक्षात्मानं ममासुभिः ॥ १७ ॥

श्लोक; नं १६, अन्वयः—

माद‍ृशाः क्षुद्रजन्तवः जायन्ते च म्रियन्ते च ।
परार्थे बद्धकक्षाणां त्वादृशाम् उद्भवः कुतः?

श्लोक नं: १७, अन्वयः—

या त्वयि म्रियमाणे म्रियते, (त्वयि) जीवति (च) जीवति,
तां यदि जीवन्तीम् इच्छसि, (तर्हि) मम असुभिः आत्मानं रक्ष ।

मुझ जैसे क्षुद्र प्राणी (संसार में कई) पैदा होते हैं और मर जाते हैं। (परन्तु) परोपकार के लिए कमर कस कर तैयार रहने वाले आप जैसे महापुरुषों का जन्म कहां होता है ? अत: इस हठ से क्या लाभ ? इस निश्चय को छोड़ दीजिए।

नायक— शङ्खचूड़ ! चिरकाल के पश्चात् प्राप्त हुए अवसर वाले, परोपकार करने के मेरे मनोरथ में तुम्हें विघ्न नहीं डालना चाहिए। अत: यह हिचकचाहट छोड़ो। यह वध्यचिह्न दे दो ?

शङ्खचूड़—हे महात्मन् ! क्यों व्यर्थ ही अपने आप को कष्ट दे रहे हो ? शङ्खचूड़ शङ्ख के समान उज्जवल शङ्खपाल के कुल को कलंकित नहीं करेगा। यदि हम आप की दया के पात्र हैं तो ऐसा उपाय सोचिए जिस से मेरी विपत्ति के कारण व्याकुल हुई यह (मेरी माता) जीवन न त्याग दे।

नायक— इस में सोचना क्या है ? उपाय तो सोचा हुआ ही है। वह तो तुम पर निर्भर है।

शङ्खचूड़— कैसे ?

नायक—जो तुम्हारे मरने पर मर जाएगी और जीते रहने से जीती रहेगी; उस (माता) को यदि तू जीवित रखना चाहता है तो मेरे प्राणों से अपने को बचा।

---

1. क्षुद्र = नाचीज़, निकम्मे, अकिंचन।
2. जिन्हों ने कमर कसी हुई है; जो तैयार हैं।
3. अर्थात् ऐसे महानुभावों का जन्म कभी कभी ही होता है।
4. काम, निश्चय, फ़ैसला। 5. सोचविचार, हिचकचाहट।
6. हा (अदादिगण, परस्मैपद) + विधिलिङ् + प्रथम पुरुष + एक वचन।

अयमभ्युपायः। तदर्पय त्वरितं वध्यचिह्नं, यावदनेनात्मानं प्रच्छाद्य वध्यशिलामारोहामि। त्वमपि जननीं पुरस्कृत्यास्माद्देशान्निवर्त्तस्व कदाचिदम्बावलोक्य सन्निकृष्टं घातस्थानं स्त्रीस्वभावकातरत्वेन जीवितं जह्यात्। किं न पश्यति भवानिदं विपन्नपन्नगानेककङ्कालसङ्कुलं महाश्मशानम्? तथाहि,—

चञ्चच्चञ्चूद्धृतार्धच्युतपिशितलवग्रासंवृद्धगर्द्धै-[1]
र्गृध्रैरारब्धपक्षद्वितयविधूतिभिर्बद्धसान्द्रान्धकारे।
वक्त्रोद्वान्ताः पतन्त्यः शमिति शिखिशिखाश्रेणयोऽस्मिञ्छिवाना-
मस्रस्रोतस्यजस्रस्रुतबहलवसावासविस्रे[2] स्वनन्ति[3] ॥ १८ ॥

शङ्खचूडः — कथं न पश्यामि ?—

[4]प्रतिदिनमहिनाहारेण विनायकाहितप्रीति।
शशिधवलास्थिकपालं वपुरिव रौद्रं श्मशानमिदम् ॥१९॥

श्लोक नं०: १८, अन्वयः—

चञ्चच्चञ्चूद्धृतार्धच्युतपिशितलवग्रास संवृद्धगर्धैः गृध्रैः
आबद्धपक्षद्वितयविधूतिभिः बद्धसान्द्रान्धकारे अस्मिन् (श्मशाने)
अजस्रस्रुतबहलवसावासविस्रे अस्रस्रोतसि शिवानां
वक्त्रोद्वान्ताः शिखिशिखाश्रेणयः शमिति पतन्ति।

श्लोक नं०: १९, अन्वयः—

प्रतिदिनमहिना आहारेण विनायकाहितप्रीति इदं श्मशानं
शशिधवलास्थिकपालं रौद्रम् वपुरिव ॥

यही उपाय है। अतः शीघ्र ही वध्यचिह्न दे दो ताकि इस से अपने आप को ढक कर वध्यशिला पर चढ़ जाऊँ। तुम भी माता को लेकर इस स्थान से लौट जाओ। कहीं (तुम्हारी) माता समीप ही वध्यभूमि को देख कर स्त्रीजाति की स्वाभाविक कायरता से प्राण ही त्याग दे। क्या आप मरे हुए सांपों के अनेक अस्थिपञ्जरों से भरे हुए (इस) महाश्मशान को नहीं देख रहे ? वैसे ही—

फड़कती हुई चोंचों से उठाए गए (परन्तु) आधे रास्ते में ही गिरे हुए मांस के टुकड़ों को पकड़ने की प्रबल इच्छा वाले, फैलाए हुए दोनों पंखों को लगातार फड़फड़ाने वाले गीधों के द्वारा जहाँ घोर अन्धकार छा रहा है ऐसे इस (श्मशान) में लगातार टपकती हुई घनी चर्बी से भीषण दुर्गन्ध वाली ख़ून की नदी में शृगालियों के मुख से निकलती हुई अग्नि की लपटें गिरती हुई 'शम्' 'शम्' का शब्द कर रही हैं।

शङ्खचूड़—क्यों नहीं देखता ? (अर्थात् देख ही रहा हूँ)—

प्रतिदिन सांपों के आहार से पक्षिराज (गरुड़) को आनन्द देने वाला यह श्मशान चन्द्रमा के समान सफ़ेद हड्डियों तथा खोपड़ियो से युक्त भगवान् रुद्र (शिव) के शरीर के समान (दीख रहा है)। [वह भी प्रतिदिन सांपों के हार से सुशोभित गणेश को आनन्द देने वाला है, तथा मस्तक पर स्थित चन्द्रमा के कारण उजली हड्डियों तथा खोपड़ियों (की माला) से शोभायमान रहता है।

---

1. गर्धः = इच्छा, लालच, लोभ। 2. अस = रक्त ख़ून।
3. वसा = चर्बी ; वास = गन्ध ; विस्रम् = दुर्गन्ध वाली।
4. तीनों विशेषणों के दो दो अर्थ—देखिए अनुवाद।

नायकः- शङ्खचूड़ ! तद् गच्छ, किमेभिः सामोपन्यासैः ?

शङ्खचूड़ः- आसन्नः खलु गरुडस्यागमनसमयः । (मातुरग्रतो जानुभ्यां स्थित्वा-) अम्ब ! त्वमपि निवर्त्तस्वेदानीम् ।

समुत्पत्स्यामहे मातर्यस्यां यस्यां [1]गतौ वयम् ।
तस्यां तस्यां प्रियसुते ! माता भूयास्त्वमेव नः ॥२०॥

[पादयोः पतति]

वृद्धा — (सास्रम्) कहं पच्छिमं से वअणं ? पुत्तअ ! ण क्खु
कथं पश्चिममस्य वचनम् ? पुत्रक ! न खलु
तुमं उज्झिअ मे पाआ अण्णदो वहंति । इह ज्जेव्व तुए
त्वामुज्झित्वा मे पादावन्यतो वहतः । इहैव त्वया
सह चिट्ठिसं ।
सह स्थास्यामि ।

शङ्खचूड़ः — (उत्थाय) यावदहमप्यदूरे भगवन्तं दक्षिण-गोकर्णं प्रदक्षिणीकृत्य स्वाम्यादेशमनुतिष्ठामि ।

[उभौ निष्क्रान्तौ]

नायकः- कष्टम् । न सम्पन्नमभिलषितम् तत्कोऽत्राभ्युपायः ?

कञ्चुकी— (तरसा प्रविश्य [2]- इदं वासोयुगम् ।

नायकः-[दृष्ट्वा सहर्षमात्मगतम्] [3]दिष्ट्या सिद्धमभिवाञ्छित-मनेनातर्कितोपनतेन रक्तांशुकयुगलेन ।

श्लोक नं०: २०, अन्वयः—
मातः ! यस्यां यस्यां गतौ वयं समुत्पत्स्यामहे
तस्यां तस्यां प्रियसुते ! त्वम् एव नः माता भूयाः ॥

नायक—शङ्खचूड़ ! तो जाओ, इन कोमल बातों से क्या लाभ ?

शङ्खचूड़—गरुड़ के आने का समय समीप ही है। (माता के आगे घुटने टेक कर) माता जी ! आप भी अब लौट जाइए।

हे माता ! जिस जिस योनि में हम उत्पन्न हों, उस उस (योनि) में हे पुत्रवत्सले ! तू ही हमारी माता हो।

वृद्धा—(आंसुओं के साथ) क्या यह इस का अन्तिम वचन है ? हे पुत्र, तुम्हें छोड़ कर मेरे पैर कहीं और नहीं चलते। यहीं तेरे साथ ही ठहरूँगी।

शङ्खचूड़—(उठकर) मैं भी तब तक समीप ही भगवान् दक्षिण गोकर्ण की प्रदक्षिणा कर के स्वामी की आज्ञा का पालन करता हूँ।

[दोनों का प्रस्थान]

नायक—आह ! मेरी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। (अब) यहां कौनसा उपाय है ?

कञ्चुकी—(वेग के साथ प्रवेश करके) यह (लाल) वस्त्रों का जोड़ा।

नायक—(देख कर, हर्षपूर्वक, मन ही मन) भाग्यवश अचानक लाए गए इन दोनों लाल वस्त्रों से मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया !

---

1. दशा, हालत, योनि।   2. पताकास्थानम्।
3. जिस के बारे में सोचा नहीं था, सहसा, अचानक।

कञ्चुकी—इदं वासोयुगं देव्या मित्रवसुजनन्या कुमाराय प्रेषितम्। तदेतत् परिधत्तां कुमारः।

नायकः—(सादरम्) उपनय।

कञ्चुकी—(उपनयति)

नायकः—(गृहीत्वात्मगतम्) सफलीभूतो मे मलयवत्याः पाणिग्रहः। (प्रकाशम्) कञ्चुकिन्! गम्यतां, मद्वचनादभिवादनीया देवी।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः। [इति निष्क्रान्तः]

नायकः—वासोयुगमिदं रक्तं प्राप्ते काले समागतम्।
महतीं प्रीतिमाधत्ते परार्थे देहमुज्झतः ॥२१॥

(दिशोऽवलोक्य) यथायं चलितमलयाचलशिखरशिलासञ्चयः प्रचण्डो [1]नभस्वाँस्तथा तर्कयाम्यासन्नीभूतः खलु पक्षिराज इति। तथा हि—

श्लोक नं० : २१, अन्वयः—
प्राप्ते काले समागतम् इदं रक्तम् वासोयुगं
परार्थे देहमुज्झतः (मम) महतीं प्रीतिम् आधत्ते।

कञ्चुकी— यह वस्त्रों का जोड़ा मित्रावसु की माता महारानी ने आप के लिए भेजा है। अत: आप इन्हें पहिन लें।

नायक—(आदरपूर्वक) लाओ।

कञ्चुकी— (पास ले आता है)

नायक— (लेकर, मन ही मन) मेरा मलयवती के साथ विवाह करना (अब) सफल हो गया। (प्रकट) कञ्चुकी! जाओ महारानी को मेरी ओर से प्रणाम कर देना।

कञ्चुकी— जो कुमार की आज्ञा। [प्रस्थान]

नायक—उचित समय पर आए हुए ये दो लाल वस्त्र परोपकार के लिए शरीर त्यागने वाले मुझे अत्यन्त प्रसन्नता दे रहे हैं। (चारों दिशाओं में देखकर) जिस प्रकार मलयपर्वत की चोटी के पत्थरों के ढेरों को हिलाता हुआ पवन प्रचण्ड (हो रहा) है, उस से मेरा विचार है कि निश्चय ही पक्षिराज गरुड़ समीप ही आ पहुँचा है। क्योंकि—

---

1. नभस्वान् = हवा।

तुल्या संवर्त्तकाभ्रैः[1] पिदधति गगनं पङ्क्तयः पक्षतीनां,
तीरे वेगानिलोऽम्भः क्षिपति भुव इव प्लावनायाम्बुराशेः ।
कुर्वन् कल्पान्तशङ्कां सपदि च सभयं वीक्षितो दिग्द्विपेन्द्रै
र्देहोद्योतैर्दशाशाः कपिशयति मुहुर्द्वादशादित्यदीप्तिः ॥२२॥

तद्यावदसौ नागच्छेच्छङ्खचूडस्तावत्त्वरिततरमिमां वध्यशिला-मारोहामि । (तथा कृत्वा, उपविश्य स्पर्शं नाटयति)—

अहो स्पर्शोऽस्याः !

न तथा [2]सुखयति मन्ये मलयवती मलयचन्दनरसार्द्रा
अभिवाञ्छितार्थसिद्ध्यै वध्यशिलेयं यथाश्लिष्टा ॥२३॥

अथवा किं मलयवत्या ?

नं० : २२, अन्वयः—

संवर्त्तकाभ्रैः तुल्याः पक्षतीनां पङ्क्तयः गगनं पिदधति । वेगानिलः भुवः इव प्लावनाय अम्बुराशेः अम्भः तीरे क्षिपति । सपदि च कल्पान्तशङ्कां कुर्वन् दिग्द्विपेन्द्रैः सभयं वीक्षितः द्वादशादित्यदीप्तिः (अयं गरुडः) देहोद्योतैः दशाशाः मुहुः कपिशयति

ोक नं०: २३: अन्वयः—

मन्ये (यत्) मलयचन्दनरसार्द्रा मलयवती आश्लिष्टा (मां) तथा न सुखयति यथा अभिवाञ्छितार्थसिद्ध्यै (आश्लिष्टा) इयं वध्यशिला ।

प्रलयकाल के मेघों के समान पँखों की कतारें (समूह) आकाश को ढक रही हैं। वेग से चलने वाली हवा मानों पृथ्वी को (ही) डुबा देने के लिए समुद्र का पानी तट पर फैंक रही है। और झटपट प्रलयकाल की शङ्का उत्पन्न करता हुआ, दिशाओं से डर के साथ देखा गया, बारह सूर्यों की कान्ति वाला (यह गरुड़) अपने शरीर की प्रभा से दसों दिशाओं को बार बार कपिश (लाल भूरा) सा कर रहा है। अतः जब तक यह शङ्खचूड़ आ नहीं जाता तब तक जल्दी से इस वध्यशिला पर चढ़ता हूँ। [वैसा ही करके, बैठकर, उस के स्पर्श का अभिनय करता है]– आह ! इस का स्पर्श (कैसा अच्छा है) ! मैं मानता हूँ कि मलयचन्दन के रस से सिक्त (शीतलाङ्गी) मलयवती भी आलिङ्गन की गई मुझे इतना सुख नहीं देती जितना कि अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए स्पर्श की गई यह वध्यशिला (देती है)। अथवा, मलयवती से क्या ?

(उस की बात छोड़ो)—

---

1. प्रलयकाल के समय प्रकट होने वाले बादल।
2. 'सुखयति' और "आश्लिष्टा"–मलयवती तथा शिला–दोनों के साथ लगते हैं।

शयितेन मातुरङ्के विस्रब्धं[1] शैशवे न तत्प्राप्तम्।
लब्धं सुखं मयास्या वध्यशिलाया यदुत्सङ्गे ॥ २४॥
तदयमागतो गरुत्मान्, यावदात्मानमाच्छादयामि।
[तथा करोति]

[ततः प्रविशति गरुडः]

गरुडः—क्षिप्त्वा बिम्बं हिमांशोर्भयकृतवलयां संस्मरन् शेषमूर्तिं
सानन्दं स्यन्दनाश्वत्रसनविचलिते पूष्णि[2] दृष्टोऽग्रजेन।
एष प्रान्तावसज्जज्जलधरपटलात्यायतीभूतपक्षः,
प्राप्तो वेलामहीध्रं मलयमहमिहग्रासगृध्नुः क्षणेन ॥२५॥

नायकः— (सपरितोषम्)—
संरक्षता पन्नगमद्य पुण्यं मयार्जितं यत्स्वशरीरदानात्।
भवे भवे[3] तेन ममैवमेवं भूयात्परोपकाराय शरीरलाभः ॥२६॥

श्लोक नं०: २४, अन्वयः—
शैशवे मातुः अङ्के विस्रब्धं शयितेन मया तत् सुखं न प्राप्तं यत् (सुखं) अस्याः वध्यशिलायाः उत्सङ्गे लब्धम्।

श्लोक नं०: २५, अन्वयः—
हिमांशोः बिम्बं क्षिप्त्वा, भयकृतवलयां शेषमूर्तिं संस्मरन्,
स्यन्दनाश्वत्रसनविचलिते पूष्णि अग्रजेन सानन्दं दृष्टः,
प्रान्तावसज्जज्जलधरपटलात्यायतीभूतपक्षः एषोऽहम्
अहिग्रासगृध्नुः क्षणेन इह वेलामहीध्रं मलयं प्राप्तः।

श्लोक नं०: २६, अन्वयः—
अद्य स्वशरीरदानात् पन्नगं संरक्षता मया यत् पुण्यम् अर्जितं,
तेन भवे भवे मम एवमेवं परोपकाराय शरीरलाभः भूयात्।

बचपन में माता की गोद में निःशङ्क सोने से भी मुझे वह सुख प्राप्त नहीं हुआ था जो (सुख) इस वध्यशिला की गोद में मिला है।

तो यह गरुड़ आगया। अतः अपने शरीर को (इन लाल वस्त्रों से) ढकता हूँ। [वैसा ही करता है]

[गरुड़ का प्रवेश]

गरुड़—चन्द्रमण्डल को हिलाता-डुलाता हुआ, भय से कुण्डलिनी मारे शेषनाग की मूर्ति को याद करता हुआ, रथ के घोड़ों के डर से सूर्य के विचलित होने पर अपने बड़े भाई (अरुण) के द्वारा आनन्द पूर्वक देखा गया, किनारों पर लिपटे हुए बादलों के समूह से अत्यन्त विस्तृत हुए पँखों वाला यह मैं सांपों को खाने की इच्छा वाला क्षण में यहां (समुद्र के) किनारे पर विद्यमान मलयपर्वत पर पहुँच गया हूँ।

नायक— (सन्तोषपूर्वक) आज अपने शरीर के दान से नाग की रक्षा करते हुए मैं ने जो पुण्य प्राप्त किया है उससे प्रत्येक जन्म में मुझे इसी प्रकार ही परोपकार के लिए शरीर लाभ हो।

---

1. भय अथवा शङ्का से रहित हो कर—; क्रियाविशेषण।
2. सति सप्तमि—सूर्य के विचलित होने पर।
3. भव=जन्म।

गरुड़ः— (नायकं निर्वर्ण्य)—

अस्मिन्वध्यशिलातले निपतितं शेषानहीन् रक्षितु[1]
निर्भिद्याशनिदण्डचण्डतरया चञ्च्वाधुना वक्षसि।
भोक्तुं भोगिनमुद्धरामि तरसा रक्ताम्बरप्रावृतं
दिग्धं[2] मद्भयदीर्यमाणहृदयप्रस्यन्दिनेवासृजा[3] ॥२७॥

[इत्यभिपत्य नायकं गृह्णाति।]

[नेपथ्ये पुष्पाणि पतन्ति। दुन्दुभयश्च स्वनन्ति]

गरुड़ः- (ऊर्ध्वं दृष्ट्वाकर्ण्य च)

अये पुष्पवृष्टिर्दुन्दुभिध्वनिश्च ! (सविस्मयं) अये !

आमोदानन्दितालिर्निपतति किमियं पुष्पवृष्टिर्नभस्तः ?
स्वर्गे किं वैष चक्रं मुखरयति[4] दिशां दुन्दुभीनां निनादः
(विहस्य) आं ज्ञातं सोऽपि मन्ये मम जवमरुताकम्पितः पारिजातः
सर्वैः संवर्त्तकाभ्रैरिदमपि रसितं जातसंहारशङ्कैः ॥२८॥

श्लोक नं० २७, अन्वयः—

शेषान् अहीन् रक्षितुम् अस्मिन् वध्यशिलातले निपतितं रक्ताम्बर-प्रावृतं मद्भयदीर्यमाणहृदयप्रस्यन्दिना इवासृजा दिग्धं भोगिनम् अधुना (अहं) अशनिदण्डचण्डतरया चञ्च्वा वक्षसि निर्भिद्य तरसा भोक्तुम् उद्धरामि।

श्लोक नं०: २८, अन्वयः—

आमोदानन्दितालिः इयं पुष्पवृष्टिः नभस्तः किं निपतति ? स्वर्गे वा दुन्दुभीनां एष निनादः दिशां चक्रं किं मुखरयति ? आं ज्ञातम्; मन्ये मम जवमरुता कम्पितः सोऽपि पारिजातः, जातसंहारशङ्कैः सर्वैः संवर्त्तकाभ्रैः अपि इदं रसितम्।

गरुड़— (नायक को देखकर) अन्य नागों की रक्षा के लिए इस वध्यशिला पर पड़े हुए लाल वस्त्र से ढके हुए, मेरे डर से फटे हुए हृदय से बहते हुए रक्त से मानों लिप्त (इस) सांप को अब (मैं) वज्र के समान कठोर चोंच से इस की छाती फाड़ कर, वेग से, खाने के लिए उठा ले जाता हूँ।

[झपट कर नायक को पकड़ता है]

[नेपथ्य में फूलों की वर्षा होती है और नगाड़ों का शब्द सुनाई देता है]

गरुड़— (ऊपर देखकर और सुनकर) अरे ! फूलों की वर्षा और नगाड़ों का शब्द !! (आश्चर्य पूर्वक) अरे ! सुगन्ध से भौंरों को आनन्दित करने वाली यह फूलों की वर्षा आकाश से क्यों हो रही है ? अथवा स्वर्ग में नगाड़ों का यह शब्द सब दिशाओं को क्यों मुखरित कर रहा है ? (हँसकर) ओह, मैं समझ गया। मेरा विचार है कि मेरे वेग से चलने से उत्पन्न हुई वायु से कंम्पित यह पारिजात वृक्ष (फूलों की वर्षा कर रहा है) और (संसार का) संहार होने के डर से सब प्रलयकाल के बादल यह गरज रहे हैं।

---

1. केवल उसी दिन के लिए।
2. दिग्धं = लिप्त।
3. असृजा = खून ३या एक वचन
4. मुखरित करना; गुँजाना।

नायकः—(आत्मगतम्) दिष्ट्या कृतार्थोऽस्मि !

गरुड़ः—(नायकं कलयन्)

नागानां रक्षिता भाति गुरुरेष[1] यथा मम ।

तथा सर्पाशनाकाङ्क्षां व्यक्तमद्यापनेष्यति[2] ॥२६॥

तद्यावदेनं गृहीत्वा मलयपर्वतमारुह्य यथेष्टमाहारयामि ।

[इति निष्क्रान्तः]

इति चतुर्थोऽङ्कः ।

श्लोक नं०: २६, अन्वय:—

यथा एष नागानां रक्षिता मम गुरुः भाति तथा व्यक्तम् अद्य (मम) सर्पाशनाकाङ्क्षाम् अपनेष्यति ।

नायक— (मन ही मन) सौभाग्य वश, मैं कृतार्थ हो गया ।

गरुड़— (नायक को देखते हुए)– जिस प्रकार से यह नागों की रक्षा करने वाला मुझे भारी (अथवा श्रेष्ठ) लगता है उस से स्पष्ट रूप से (जान पड़ता है कि) आज (यह मेरी) साँपों को खाने की इच्छा को बुझा देगा । अतः इसे लेकर मलयपर्वत पर चढ कर यथेष्ट (पेट भर) भोजन करता हूँ । [प्रस्थान]

चतुर्थ अङ्क समाप्त ।

---

1. गुरु = भारी; आचार्य; श्रेष्ठ।
2. दूर कर देगा; बुझा देगा । पताका स्थान ।

अथ पञ्चमोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति प्रतीहारः]

प्रतीहारः-स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धे पापं विशङ्क्यते[1] स्नेहात्।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्ये ॥ १ ॥

तथाहि,—जीमूतवाहनो जलनिधिवेलावलोनकुतूहली निष्क्रान्तश्चिरयतीति दुःखमास्ते महाराजविश्वावसुः । समादिष्टश्चास्मि तेन, यथा—'सुनन्द ! श्रुतं मया[2] सन्निहितगरुडप्रतिभयमुद्देशं जामाता जीमूतवाहनो गत इति। शङ्कित एवास्म्यनेन वृत्तान्तेन । तत्त्वरितं विज्ञायागच्छ 'किमसौ स्वगृहमागतो न वा' इति । यावत्तत्र गच्छामि । (परिक्रामन्नग्रे दृष्ट्वा) अयमसौ राजर्षिर्जीमूतवाहनस्य पिता जीमूतकेतुरुटजाङ्गणे सह स्वधर्मचारिण्या राजपुत्र्या वध्वा च पर्युपास्यमानस्तिष्ठति । तथाहि—

श्लोक नं०: १, अन्वयः—

स्निग्धे स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्नेहात् पापं विशङ्क्यते; दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्ये किमु ?

पांचवां अङ्क।

[प्रतीहार (द्वारपाल) का प्रवेश]

प्रतीहार— प्रिय जन के अपने घर के बग़ीचे में जाने पर भी, प्रेम के कारण, अनिष्ट की आशङ्का होने लगती है; (फिर) वन के बीच जाने पर तो कहना ही क्या जहां बहुत से विघ्न और डर देखे गए हों। वैसे ही, समुद्रतट को देखने की उत्कण्ठा से गया हुआ जीमूतवाहन देर कर रहा है इस विचार से महाराज विश्वावसु दुःखी हो रहे हैं। और उन्हों ने मुझे आज्ञा दी है कि 'हे सुनन्द! मैंने सुना है कि दामाद जीमूतवाहन उस स्थान को गए हैं जहां गरुड़ का डर हमेशा बना रहता है। इस समाचार से मुझे आशङ्का हो रही है। अतः तुम जल्दी से पता लगा कर आओ कि वह अपने घर (लौट) आए हैं कि नहीं। तो मैं वहां जाता हूँ। (घूमते हुए, आगे देख कर) यह जीमूतवाहन के पिता राजर्षि जीमूतकेतु कुटिया के आंगन में अपनी पत्नी तथा पुत्रवधू राजकुमारी (मलयवती) से सेवा किए जा रहे हुए बैठे हैं। और भी —

---

1. 'अति स्नेहः पापशङ्की' —शकुन्तला।
2. सन्निहित —समीप स्थित। सदा उपस्थित।

क्षौमे[1] भङ्गवती तरङ्गतरले फेनाम्बुतुल्ये वहन् ,

जाह्नव्येव विराजितः सवयसा[2] देव्या महापुण्यया ।

धत्ते तोयनिधेरयं सुसदृशीं जीमूतकेतुः श्रियं,

यस्यैषाऽन्तिकवर्तिनी मलयवत्याभाति वेला यथा ॥२॥

तद्यावदुपसर्पामि ।

[ततः प्रविशति पत्नीवधूसमेतो जीमूतकेतुः]

जीमूतकेतुः– भुक्तानि यौवन सुखानि यशोऽवकीर्णं,

राज्ये[3] स्थितं स्थिरधिया चरितं तपोऽपि ।

श्लाघ्यः सुतः सुसदृशान्वयजा स्नुषेयं

चिन्त्यो मया ननु कृतार्थतयाद्य मृत्युः ॥ ३ ॥

सुनन्दः — (सहसोपसृत्य)– जीमूतवाहनस्य[4] —

जीमूतकेतुः—(कर्णौ पिधाय)– शान्तं पापं, शान्तं पापम् ।

श्लोक नं०: २, अन्वयः—

भङ्गवती तरङ्गतरले फेनाम्बुतुल्ये क्षौमे वहन् , जाह्नव्या एव सवयसा महापुण्यया देव्या विराजित;, अयं जीमूतकेतुः तोयनिधेः सुसदृशीं श्रियं धत्ते, यस्य अन्तिकवर्तिनी एषा मलयवती वेला यथा आभाति ।

श्लोक नं०: ३, अन्वयः—

(मया) यौवनसुखानि भुक्तानि, यशोऽवकीर्णं, स्थिरधिया राज्ये स्थितं, तपोऽपि चरितम् ; सुतः श्लाघ्यः, इयं स्नुषा सुसदृशान्वयजा, ननु मया कृतार्थतया अद्य मृत्युः चिन्त्यः ।

तह वाले, तरंग की तरह लहराते हुए, झाग वाले पानी की तरह सफ़ेद, दो रेशमी वस्त्र-धारण किए हुए, जल जन्तुओं से युक्त अति पुण्यवती गङ्गा के समान अपनी समान-अवस्था वाली पुण्यात्मा महारानी के साथ शोभायमान, यह जीमूतकेतु समुद्र की लक्ष्मी के समान शोभा को धारण कर रह रहा है जिस के समीप बैठी हुई यह मलयवती मलयपर्वत से युक्त समुद्रतट के समान लग रही है। तो मै समीप जाता हूँ।

[पत्नी तथा पुत्रवधू के साथ जीमूतकेतु का प्रवेश]

जीमूतकेतु— मैंने यौवन के सुख भोग लिए, यश भी फ़ैल गया है, स्थिर बुद्धि से राज्य कर लिया, तप भी किया, पुत्र श्लाघा योग्य है, यह बहू भी अपने समान कुल में उत्पन्न हुई है, अब तो निश्चय ही कृतकृत्य हुए मुझे मृत्यु की (ही) चिन्ता करनी चाहिए।

सुनन्द— (अचानक पास जा कर)— जीमूतवाहन की......

जीमूतकेतु— (कान बन्द करके) अनिष्ट नाश हो, अनिष्ट नाश हो !

---

1. भङ्ग = तह अथवा लहर।
2. सवयसा = हम-उम्र, समान आयु वाली; अथवा, पक्षियों, हंसों या जल-जन्तुओं से युक्त।
3. राज्ये स्थितम् = राज्य में ठहरा। राज्य किया।
4. मानों जीमूतकेतु के अन्तिम वाक्य को इस प्रकार से समाप्त किया है कि 'अब मुझे जीमूतवाहन की मृत्यु की चिन्ता करनी चाहिए' जो कि अनिष्टसूचक है, अपशकुन है। पताकास्थान।

वृद्धा— पडिहदं क्खु एदं अमंगलं।

प्रतिहतं खल्विदममङ्गलम् ।

मलयवती— वेवदि मे हिअअं इमिणा दुण्णिमित्तेण।

वेपते मे हृदयमनेन दुर्निमित्तेन ।

जीमूतकेतुः—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा) भद्र किं जीमूतवाहनस्य?

सुनन्दः—जीमूतवाहनस्य वार्त्तामान्वेष्टुं महाराजविश्वावसुना युष्मदन्तिकं प्रेषितोऽस्मि।

जीमूतकेतुः—[1] किमसन्निहितस्तत्र मे वत्सः?

वृद्धा—(सविषादम्) महाराअ! जइ तहिं ण सण्णिहिदो,

महाराज! यदि तत्र न सन्निहितः,

ता कहिं गदो मे पुत्तओ भविस्सदि?

तत् क्व गतो मे पुत्रको भविष्यति?

जीमूतकेतुः—[2] नूनमस्मत्प्राणयात्रार्थं नितान्तं दूरं गतो भविष्यति।

मलयवती—(सविषादमात्मगतम्) अहं उण अज्जउत्तं

अहं पुनरार्यपुत्रम्

अपेक्खन्ती अण्णं ज्जेव्व किंपि आसंकामि।

अपेक्षमाणा अन्यदेव किमप्याशङ्के ।

सुनन्दः—आज्ञापयतु महाराजः किं मया स्वामिने निवेदनीयम्।

वृद्धा— यह अमंगल नष्ट हो ! !

मलयवती— इस अपशकुन से मेरा दिल कांप रहा है ।

जीमूतकेतु— (बाईं आँख का फड़कना सूचित करके)– भले आदमी, जीमूतवाहन की क्या ?

सुनन्द — जीमूतवाहन की कुशलवार्ता जानने के लिए महाराज विश्ववासु ने मुझे आप के पास भेजा है ।

जीमूतकेतु— क्या मेरा बच्चा वहाँ नहीं है ?

वृद्धा— (दुःखपूर्वक) महाराज ! यदि मेरा बच्चा वहां नहीं है तो कहां गया होगा ?

जीमूतकेतु— अवश्य ही हमारे लिए भोजन सामग्री लाने के लिए बहुत दूर चला गया होगा ।

मलयवती— (दुःख पूर्वक, मन ही मन) – आर्यपुत्र को न देखती हुई मुझे तो कुछ और ही आशङ्का हो रही है ।

सुनन्द—महाराज आज्ञा दें मैं स्वामी को क्या कहूँ ?

---

1. जो समीप नहीं; अनुपस्थित ।

2. हमारे प्राण धारण करने के लिए । खाने के लिए (सामग्री लाने के लिए) ।

जीमूतकेतुः— (वामाक्षिस्पन्दनं सूचयन्)— जीमूतवाहन-
श्चिरयतीति पर्याकुलोऽस्मि हृदयेन।—

स्फुरसि किमु दक्षिणेतर! मुहुर्मुहुः सूचयन्ममानिष्टम्।
हतचक्षुरपहतं ते स्फुरितं, मम पुत्रकः कुशली॥ ४॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य) अयमेव त्रिभुवनैकचक्षुर्भगवान्
सहस्रदीधितिः स्फुटं जीमूतवाहनस्य श्रेयः करिष्यति।
(अवलोक्य सविस्मयम्)—

आलोक्यमानमतिलोचनदुःखदायि,
रक्तच्छटा निजमरीचिरुचो[1] विमुञ्चत्।
उत्पातवाततरलीकृततारकाभ-
मेतत्पुरः पतति किं सहसा नभस्तः? ॥ ५ ॥

कथं चरणयोरेव पतितम्? [सर्वे सविस्मयं निरूपयन्ति]

2

जीमूतकेतुः— अये! कथं लग्नसरसमांसकेशश्चूडामणिः!
कस्य पुनरयं स्यात्?

श्लोक: नं०: ४, अन्वय:—

हतचक्षु: दक्षिणेतर! मुहुः मुहुः मम अनिष्टं सूचयन् किमु स्फुरसि! ते स्फुरितम् अपहतम्! मम पुत्रकः कुशली!!

श्लोक नं०: ५, अन्वय:—

आलोक्यमानम् अतिलोचनदुःखदायि, निजमरीचिरुच: रक्तच्छटाः विमुञ्चत्, उत्पातवाततरलीकृततारकाभम् एतत् नभस्त: पुर: सहसा किं पतति?

जीमूतकेतु—(बाईं आंख का फड़कना सूचित करके)—जीमूतवाहन देर कर रहा है, इस विचार से मैं मन में व्याकुल हो रहा हूँ।—हे दुष्ट बाईं आंख ! बार बार मेरे अनिष्ट की सूचना देती हुई तू क्यों फड़क रही है ? तेरा फड़कना दूर हो ! (और) मेरा बच्चा सकुशल हो !!

(ऊपर देखकर) यही त्रिलोकी के नेत्रस्वरूप, सहस्त्र किरणों वाले भगवान् सूर्य अवश्य ही जीमूतवाहन का कल्याण करेंगे।

(देखकर, विस्मयपूर्वक)— देखने से आंखों को अति दुःख देने वाला, अपनी किरणों की शोभा के समान ख़ून की धाराएँ टपकाता हुआ, उत्पातकारी वायु से हिलाए गए तारे की कान्ति वाला यह आकाश से (हमारे) सामने एकाएक क्या गिर रहा है ?

क्या, (मेरे) चरणों पर ही गिर पड़ा ? (सब हैरानी से देखते हैं)

जीमूतकेतु— अरे ! (यह तो) ख़ून से गीले माँस तथा बालों से लिपटा हुआ चूड़ामणि है। यह किस का हो सकता है ?

---

1. जो रस की धाराएँ बहा रही है जो उसकी किरणों के समान लग रही हैं।
2. सरस=रस वाला; गीला; ताज़ा। (जिस के साथ ख़ून से युक्त माँस लगा हुआ है)

वृद्धा—(सविषादम्) महाराअ ! पुत्तअस्स विअ मे एदं चूडारअणं।
महाराज ! पुत्रकस्येव मे एतच्चूडारत्नम्।

मलयवती— अम्ब ! मा एव्वं भण।
अम्ब ! मैवं भण।

सुनन्दः— महाराज ! मैवमविज्ञाय विक्लवीभूः[2]। अत्र हि—

तार्क्ष्येण[1] भक्ष्यमाणानां पन्नगानामनेकशः।
उल्कारूपाः पतन्त्येते शिरोमणय ईदृशाः ॥ ६ ॥

जीमूतकेतुः—देवि ! सोपपत्तिकमभिहितं[3] सुनन्देन। कदाचि-
देवमपि स्यात्।

वृद्धा—सुणंदअ ! जाव इमाए वेलाए ससुरसदणं ज्जेव्व
सुनन्दक ! यावदनया वेलया श्वसुरसदनमे-
आअदो मे पुत्तओ भविस्सदि। ता गच्छ, जाणिअ
वागतो मे पुत्रको भविष्यति। तद्गच्छ, ज्ञात्वा
लहुं संपादेहि।
लघु सम्पादय[4]।

सुनन्दः—यदाज्ञापयति देवी। [इति निष्क्रान्तः]

जीमूतकेतुः— देवि ! अपि नागचूडामणिः स्यात्।

श्लोक नं०: ६, अन्वयः—

तार्क्ष्येण भक्ष्यमाणानां पन्नगानाम् एते ईदृशाः उल्कारूपाः शिरो-
मणयः अनेकशः पतन्ति।

वृद्धा— (दुःख पूर्वक) महाराज ! यह तो मानों मेरे बच्चे का ही चूडामणि है।

मलयवती— माता जी ! ऐसा न कहो।

सुनन्द— महाराज ! इस प्रकार जाने बिना ही व्याकुल न हों। यहां तो– गरुड के द्वारा खाए जाते हुए सांपों के यह ऐसे उल्कारूप चूडामणि अनेकों ही गिरा करते हैं।

जीमूतकेतु— देवि ! सुनन्द ने युक्ति-युक्त बात कही है। शायद ऐसा ही हो !

वृद्धा— हे सुनन्द ! कदाचित् मेरा पुत्र इस समय तक श्वशुरगृहमें ही आ गया है ! अतः जाओ पता लगा कर शीघ्र सूचना दो।

सुनन्द— महारानी की जो आज्ञा। [प्रस्थान]

जीतमूतकेतु— देवि ! कदाचित् यह किसी सांप का ही चूडामणि हो।

---

1. भक्ष् + कर्मवाच्य + शानच् + पु० + षष्ठी, बहुवचन।
2. अनेकशः = अनेकों; अनेक वार; प्रायः।
3. सोपपत्तिकं = युक्ति के साथ।
4. सम्पादय = प्राप्त कर। (मेरे लिए) पता लगा। मुझे समाचार ला दे। सूचना दे।

[ततः प्रविशति रक्तवस्त्रसंवीतः शङ्खचूडः]

शङ्खचूडः—(सास्रम्) कष्टं भोः कष्टम् ! मुषितोऽस्मि दैवेन ।

गोकर्णमर्णवतटे त्वरितं प्रणम्य
प्राप्तोऽस्मि तां खलु भुजङ्गमवध्यभूमिम् ।
आदाय[1] तं नखमुखक्षतवक्षसञ्च
विद्याधरं गगनमुत्पतितो गरुत्मान् ॥ ७ ॥

(रुदन्) हा महासत्त्व ! हा परम कारुणिक ! हा निष्कारणबान्धव ! हा परदुःखदुःखित ! क्व गतोऽसि ? प्रयच्छ मे प्रतिवचनम् । (आत्मानमुद्दिश्य) हा शङ्खचूडहतक ! किं कृतं त्वया ?—

नाहित्राणात्कीर्तिरेका[2] मयाप्ता,
नापि श्लाघ्या स्वामिनोऽनुष्ठिताज्ञा ।
दत्त्वात्मानं रक्षितोऽन्येन शोच्यो,
हा धिक् ! कष्टं ! वञ्चितो वञ्चितोऽस्मि ॥ ८ ॥

श्लोक नं० ७, अन्वयः—

अर्णवतटे गोकर्णं प्रणम्य त्वरितं तां खलु भुजङ्गवध्यभूमिं प्राप्तोऽस्मि । (परमस्मिन्नेवान्तरे) नखमुखक्षतवक्षसं च तं विद्याधरम् आदाय गरुत्मान् गगनम् उत्पतितः ॥

श्लोक नं० ८, अन्वयः—

न मया अहित्राणात् एका कीर्तिः आप्ता; नापि स्वामिनः श्लाघ्या आज्ञा अनुष्ठिता ; अन्येन आत्मानं दत्त्वा रक्षितः ; (अतः) शोच्यः ; हा धिक् ! कष्टम् ! वञ्चितो वञ्चितोऽस्मि ।

[लाल वस्त्र पहने शङ्खचूड का प्रवेश

शङ्खचूड— (आंसुओं के साथ)— आज, बड़े कष्ट की बात है ! भाग्य द्वारा ठगा गया हूँ ।

समुद्र के किनारे (पर विराजमान) भगवान् गोकर्ण को प्रणाम करके मैं शीघ्र ही उसी साँपों की वध्यभूमि पर पहुंच गया हूँ । (परन्तु इसी बीच में) अपने नाखुन तथा चोंच से विदीर्ण छाती वाले उस विद्याधर को लेकर गरुड आकाश में उड़ गया है ।

(रोते हुए)– हा महात्मन् ! हा अत्यन्त दयालु ! हा बिना कारण के बन्धु ! हा दूसरों के दुःख से दु खी होने वाले ! तुम कहां चले गए ! मुझे उत्तर दो । (अपने आप से) आह पापी शङ्खचूड ! तू ने क्या किया ? —

न तो मैंने किसी सर्प को बचाकर कोई कीर्ति ही प्राप्त की, और न ही अपने स्वामी की श्लाघा-योग्य आज्ञा का ही पालन किया । (वरन्) किसी दूसरे ने अपने प्राण देकर मुझे बचाया; (अत॰) मैं शोचनीय हूँ । आह, धिक्कार है ! बड़े दु ख की बात है कि मै ठगा गया, ठगा ही गया, अत: ऐसा मैं एक क्षण

---

1. नखमुख = नाखुन का अग्रभाग । अथवा, नाखुन और चोंच से (विदीर्ण) ।
2: एका = एक; थोड़ी भी; छुक भी ।

तन्नाहमेवंविधः क्षणमपि जीवन्नुपहास्यमात्मानं करोमि। यावदेतदनुगमनं प्रति यतिष्ये। [परिक्रामन्, भूमौ दत्तदृष्टिः]:-

आदावुत्पीडपृथ्वीं[1] प्रविरलपतितां स्थूलबिन्दुं ततोऽग्रे,
ग्रावस्वापातशीर्णप्रसृततनुकणां कीटकीर्णां स्थलीषु।
दुर्लक्ष्यां धातुभित्तौ घनतरुशिखरे स्त्यान[2]नीलस्वरूपा-
मेनां तार्क्ष्यं दिदृक्षुर्निपुणमनुसरन् रक्तधारां व्रजामि ॥९॥

वृद्धा-(ससाध्वसम्)- महाराअ! एसो ससोओ विअ रुदि-
महाराज! एष सशोक इव रुदि-
दवअणो इदो ज्जेव्व तुरिदं आअच्छंन्तो हिअअं मे आ-
तवदन इत इव त्वरितमागच्छन् हृदयं मे आ-
कुलीकरेदि। ता जाणीअदु दाव को एसो त्ति।
कुलीकरोति। तज्ज्ञायतां तावत्क एष इति।

जीमूतकेतुः— यथाह देवी।

शङ्खचूडः—(साक्रन्दम्)- हा त्रिभुवनैकचूडामणे[3]! क्व मया द्रष्टव्योऽसि। मुषितोऽस्मि भो मुषितोऽस्मि।

श्लोक नं०: ९, अन्वय:—

(या) आदौ उत्पीडपृथ्वीं, ततोऽग्रे प्रविरलपतितां स्थूलबिन्दुं, ग्रावस्वापातशीर्णप्रसृततनुकणां, स्थलीषु कीटकीर्णां, धातुभित्तौ दुर्लक्ष्यां, घनतरुशिखरे स्त्याननीलस्वरूपाम् एनां रक्तधारां निपुणम् अनुसरन् (अहं) तार्क्ष्यं दिदृक्षुः व्रजामि।

भी जीकर अपने आप को हंसी का पात्र नहीं बनाऊँगा। तो दूसो के पीछे जाने का यत्न करता हूँ।

[घूमते हुए, पृथ्वी पर आंखें गाड़ कर]—

जो आरम्भ में अधिक खून के गिरने से मोटी है, फिर आगे कुछ कुछ दूरी पर गिरी हुई मोटी मोटी बून्दों वाली है, पत्थरों पर गिरने से टूटे हुए जिसके छोटे छोटे कण बिखरे पड़े हैं, भूमि पर (गिरने से) जिस के ऊपर कीड़े व्याप्त हैं, धातुओं की चट्टानों पर जो कठिनता से दिखाई दे रही है, घने वृक्षों पर जो जमकर नीले रंग की हो गई है (ऐसी) इस रक्त धारा का अनुसरण करता हुआ मैं गरुड़ को देखने की इच्छा वाला जाता हूँ।

वृद्धा— (घबराहट के साथ) महाराज! यह शोकातुर सा रोता हुआ, इधर ही शीघ्रता से आता हुआ मेरे हृदय को व्याकुल कर रहा है। अतः पता लगाइए कि यह कौन है?

जीमूतकेतु— जैसा रानी कहे।

शङ्खचूड़— (ज़ोर से रोता हुआ) हे त्रिलोकि के एकमात्र चूडामणि! मैं तुम्हें कहां देखूं? मैं लुट गया, अरे, ठगा गया।

---

1. पृथ्वीं = मोटी। 2. स्त्यान = घनीभूत, जमी हुई।
3. शङ्खचूड़ जीमूतवाहन के बारे में कह रहा है। सुनने वाले सिर का आभूषण ही समझते हैं।

जीमूतकेतुः—(आकर्ण्य, सहर्षम् विहस्य) देवि! मुञ्च शोकम्। अस्यायं चूडामणिर्नूनं मांसलोभात् केनापि पक्षिणा मस्तकादुत्खायानीयमानोऽस्यां भूमौ पपात।

वृद्धा—(सपरितोषं मलयवतीं समालिङ्ग्य)—अविधवे! धीरा

अविधवे! धीरा

होहि। ण क्खु ईरिसी आकिदी वेहव्वदुक्खं अणुहोदि।

भव। न खल्वीदृशी आकृतिर्वैधव्यदुःखमनुभवति।

मलयवती—(सहर्षम्) अम्ब! तुम्हाणं आसिसां पभाएण।

अम्ब! युष्माकमाशिषां प्रभावेण।

[पादयोः पतति]

जीमूतकेतुः—(शङ्खचूडमुपसृत्य) वत्स! किं तव चूडामणिरपहृतः?

शङ्खचूडः—आर्य! न ममैकस्य, त्रिभुवनस्यापि।

जीमूतकेतुः—कथमिव?

शङ्खचूडः—दुःखातिभाराद्बाष्पोपरुध्यमानकण्ठो न शक्नोमि कथयितुम्।

जीमूतकेतुः—आवेदय ममात्मीयं पुत्र! दुःखं सुदुःसहम्।
मयि सङ्क्रान्तमेतत्ते येन सह्यम् भविष्यति ॥१०॥

श्लोक नं०: १०, अन्वयः—

पुत्र! आत्मीयं सुदुःसहं दुःखं मम आवेदय, येन मयि सङ्क्रान्तम् एतत् सह्यं भविष्यति।

जीमूतकेतु– (सुनकर, हर्षपूर्वक हंस कर) देवी ! शोक को छोड़ दो।

निश्चय ही यह चूडामणि इसी का है, (जो) मांस के लोभ से किसी पक्षी के द्वारा मस्तक से उखाड़ कर लाया जाता हुआ इस भूमि पर गिर पड़ा है।

वृद्धा— (सन्तोष के साथ, मलयवती को गले लगाकर) सौभाग्यवती, धीरज धर। ऐसी (सुन्दर) आकृति वैधव्य दुःख का अनुभव नहीं कर सकती।

मलयवती— माता जी ! आपके ही आशीर्वादों के प्रभाव से।

[पैरों पर गिरती है]

जीमूतकेतु— (शङ्खचूड के पास जाकर) वत्स, क्या तुम्हारा चूडामणि चुरा लिया गया है ?

शङ्खचूड— आर्य ! केवल मेरा ही नहीं, त्रिलोकि का ही।

जीमूतकेतु— कैसे ?

शङ्खचूड— दुःख के अत्यन्त भार के कारण आँसुओं से रुँधे हुए गले वाला मैं कह नहीं सकता।

जीमूतकेतु— हे पुत्र, अपना कठिनता से सहन किए जाने वाला (भी) दुःख मुझे सुनाओ, जिससे मुझे दे देने से यह सहने योग्य (हलका) हो जाएगा।

शङ्खचूडः—श्रूयताम् । शङ्खचूडो नाम नागः खल्वहम् । आहारार्थं वासुकिना वैनतेयाय प्रेषितः । किं बहुना विस्तरेण ? कदाचिदियं रुधिरधारापद्धतिः पांसुभिरवकीर्यमाणा दुर्लक्ष्यतामुपयाति । तत्संक्षेपतः कथयामि—

विद्याधरेण केनापि करुणाविष्टचेतसा ।
मम संरक्षिताः प्राणा दत्त्वात्मानं गरुत्मते ॥११॥

जीमूतकेतुः— कोऽन्य एवं परहितव्यसनी ? वत्स ! ननु स्पष्टमेवोच्यतां जीमूतवाहनेनेति । हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः ।

वृद्धा— हा पुत्तअ ! कहं तुए एदं किदं ?

हा पुत्रक ! कथं त्वयैतत्कृतम् ?

मलयवती— (सास्रम्) कहं सच्चीभूदं ज्जेव्व दुच्चिंतिदं ?

कथं सत्यीभूतमेव दुश्चिन्तितम् ?

[सर्वे मोहं गच्छन्ति]

शङ्खचूडः— (सास्रम्) नूनमेतौ पितरौ तस्य महासत्त्वस्य । कथमप्रियवादिना मया इमामवस्थां नीतौ । अथवा (विषादृते विषधरस्य मुखात् किमन्यन्निःसरति ? अहो

श्लोक नं०: ११, अन्वयः—

करुणाविष्टचेतसा केनापि विद्याधरेण गरुत्मते आत्मानं दत्त्वा मम प्राणाः संरक्षिताः ।

शङ्खचूड— सुनिए– मैं शङ्खचूड नामक नाग हूँ। मुझे वासुकि ने गरुड़ के पास खाने के लिए भेजा था। अधिक विस्तार से क्या लाभ? कहीं यह खून की धारा का मार्ग धूलि से ढक जाने मे कठिनता से दिखाई पड़ने लगे। अतः संक्षेप से कहता हूँ।— करुणापूर्ण[1] चित्त वाले किसी विद्याधर ने गरुड़ को अपना शरीर देकर मेरे प्राणों की रक्षा की है।

जीमूतकेतु—कौन दूसरा इस प्रकार परोपकार में लगन[2] रखता है? पुत्र, साफ़ साफ़ कहो कि जीमूतवाहन ने (तुम्हारे प्राण बचाए हैं)। आह, मैं अभागा मारा गया!

वृद्धा— हाय बच्चे, तू ने ऐसा क्यों किया?

मलयवती— (आँसुओं के साथ) क्या जिस अमङ्गल की मुझे शङ्का थी वह सच ही हो गया। [सब मूर्छित हो जाते हैं]

शङ्खचूड़-(आंसुओं के साथ) अवश्य ही ये ही (दोनों) उस महात्मा के माता पिता हैं। अप्रिय वचन बोल कर मैं ने इन्हें इस दशा को क्यों पहुँचाया है? अथवा, साँप के मुख से विष के विना और क्या निकल सकता है? आह, प्राण दान करने वाले जीमूतवाहन

---

1. करुणा ने जिस के मन पर काबू पा लिया है; अथवा, करुणा से भरे मन वाला।
2. जिस को परोपकार करने की लत है।

प्राणप्रदस्य सुसदृशं[1] प्रत्युपकृतं जीमूतवाहनस्य शङ्ख-
चूडेन। तत् किमधुनैवात्मानं व्यापादयामि ? अथवा
समाश्वासयामि तावदेतौ। तात! समाश्वसिहि! अम्ब
समाश्वसिहि। [उभौ समाश्वसितः]

वृद्धा– वच्छे! उट्ठेहि, मा रोअ। अम्हे किं जीमूदवाहणेण
वत्से ! उत्तिष्ठ , मा रुदिहि ! वय किं जीमूतवाहनेन
विणा जीवम्ह ? ता समस्सस दाव।
विना जीवामः ? तन्समाश्वसिहि तावत्।

मलयवती–(समाश्वस्य) अज्जउत्त ! कहिं मए तुमं पेक्खिदव्वो ?
आर्यपुत्र ! क्व मया त्वं प्रेक्षितव्यः ?

जीमूतकेतुः– हा वत्स ! गुरुचरणशुश्रूषाविधिज्ञ !
चूडामणिं चरणयोर्मम पातयता त्वया।
लोकान्तरगतेनापि नोज्झितो विनयक्रमः[2] ॥ १२ ॥
(चूडामणिं गृहीत्वा) हा वत्स ! कथमेतावन्मात्रदर्शनः संवृत्तोऽसि ?
(हृदये दत्त्वा) अहह !—

श्लोक नं०: १२, अन्वयः—
मम चरणयोः चूडामणिं पातयता, लोकान्तरगतेनापि त्वया
विनयक्रमः न उज्झितः।

का शङ्खचूड़ ने क्या ही अच्छा प्रत्युपकार किया है ? तो क्या मैं अभी अपने आप को मार डालूँ ? अथवा, इन दोनों को धैर्य बन्धाता हूँ । पिता जी, धीरज करो; माता जी, धीरज करो । [दोनों होश में आते हैं]

वृद्धा— बेटी, उठ; रो मत । हम क्या जीमूतवाहन के बिना जी सकते हैं ? अतः धीरज कर ।

मलयवती— (होश में आकर) आर्यपुत्र ! मैं आप को कहां ढूँढूँ ।

जीमूतकेतु—हाय पुत्र, गुरुजनों के चरणों की सेवा करने की विधि जानने वाले ;—

मेरे पैरों पर चूड़ामणि गिराते हुए, परलोक गए हुए भी तू ने विनय का क्रम (मार्ग) नहीं छोड़ा ।

(चूड़ामणि लेकर) हाय पुत्र ! क्या अब तुम्हारे दर्शन इतने ही रह गए ? (हृदय पर रख कर) आह !—

---

1. कटाक्ष अथवा उपालम्भ रूप में । उसके इतने बड़े उपकार के बदले मैं ने इतना उपकार किया ।
2. क्रम = मर्यादा ; मार्ग ; तरीका ।

भक्त्या विदूरविनताननमौलेः
शश्वत्तव प्रणमतश्चरणौ मदीयौ ।
चूडामणिर्निकषणैर्मसृणोऽप्ययं हि
गाढं विदारयति मे हृदयं कथं नु ॥ १३

वृद्धा—हा पुत्त जीमूदवाहण ! जस्स दे गुरुअणसु
हा पुत्र जीमूतवाहन ! यस्य ते गुरुजनशुश्रूषां
विज्जिअ अण्णं सुहं ण रोअदि, सो कहिं दाणिं पि
वर्जयित्वान्यत्सुखं न रोचते , स कुत्रेदानीं पित
उज्झिअ सग्गसुहमणुहोदुं गदोसि ?
उज्झित्वा स्वर्गसुखमनुभवितुं गतोऽसि ?

जीमूतकेतुः—(सास्रम्) देवि ! किं जीमूतवाहनेन वि
जीवामो वयं येनैवं प्रलपसि ?

मलयवती—(पादयोर्निपत्य कृताञ्जलिः)— ता देहि मे अ
तद्देहि मे आ
उत्तचिण्हं चूडामणिं, जेण एदं हिअए क
पुत्रचिह्नं चूडामणिं , येनैनं हृदये कृ
जलणपवेसेण अवणेमि हिअअस्स संदावदुःखम् ।
ज्वलनप्रवेशेनापनयामि हृदयस्य सन्तापदुःखम् ।

श्लोक नं०: १३, अन्वयः—
भक्त्या विदूरविनताननमौलेः मदीयौ चरणौ शश्वत् प्रण
तव अयं हि चूडामणिः निकषणैः मसृणोऽपि कथं नु मे
गाढं विदारयति ।

भक्ति के साथ दूर तक अपने मुख तथा सिर को झुकाने वाले, सदा मेरे पैरों पर प्रणाम करने वाले तेरा यह चूड़ामणि, रगड़ से चिकना हुआ भी क्यों मेरे हृदय को इतने ज़ोर से काट रहा है।

…ा – हा पुत्र जीमूतवाहन, तुम्हें तो गुरुजनों की सेवा को छोड़ दूसरा कोई सुख अच्छा ही नहीं लगता था, फिर तुम अब माता पिता को छोड़ कर स्वर्ग का सुख अनुभव करने कैसे चले गए हो ?

…ीमूतकेतु—(आंसुओं के साथ) देवी ! क्या हम जीमूतवाहन के बिना जीएँगे जो तुम इस प्रकार विलाप कर रही हो ?

मलयवती—(चरणों पर गिर कर, हाथ जोड़ कर)—आर्यपुत्र की निशानी यह चूड़ामणि मुझे दे दीजिए, ताकि इसे छाती से लगाकर अग्नि में प्रवेश कर के अपने हृदय की जलन तथा दुःख दूर करूँ।

---

1. विरोधाभास ।

जीमूतकेतुः— पतिव्रते ! किमेवमाकुलयसि ? ननु सर्वेषामे-
वास्माकमयं निश्चयः।

वृद्धा— महाराअ ! ता किं अम्हेहिं पडियालीअदि ?
महाराज ! तत्किमस्माभिः प्रतिपाल्यते ?

जीमूतकेतुः—न खलु देवि ! किञ्चित्। किन्त्वाहिताग्नेर्ना-[1]
न्येनाग्निसंस्कारो विहितः[2]। अतोऽग्निहोत्रशरणाद-
[3]ग्नीनादायात्मानमुद्दीपयामः।

शङ्खचूडः—(आत्मगतम्)— कष्टं ! ममैकस्य कृते सकल-
मेवेदं विद्याधरकुलमुच्छिन्नम्। तदेवं तावत्। (प्रकाशम्)
तात ! न खल्वनिश्चित्यैव युक्तमिदमीदृशं साहसमनु-
ष्ठातुम्। विचित्राणि हि दैवविलसितानि। कदाचिन्नायं
नाग इति ज्ञात्वा परित्यजेन्नागशत्रुः। तदनयैव दिशा
वैनतेयमनुसरामस्तावत्।

वृद्धा— सव्वहा देवदाणं पसादेण जीवतस्स पुत्तअस्स मुहं
सर्वथा देवतानां प्रसादेन जीवतः पुत्रस्य मुखं
दंसेम।
पश्यामः।

मलयवती—(आत्मगतम्) दुल्लहं क्खु एदं मम मंदभग्गाए।
दुर्लभं खल्वेतन्मम मन्दभाग्यायाः

जीमूतकेतु—हे पतिव्रते ! इस प्रकार क्यों व्याकुल हो रही हो ? हम सब का यही निश्चय है ।

वृद्धा—महाराज ! तो हम किस की प्रतीक्षा कर रहे हैं ?

जीमूतकेतु—देवी ! किसी की नहीं । परन्तु अग्निहोत्री का दाह संस्कार किसी दूसरी अग्नि से नहीं हो सकता । अतः अग्निहोत्र शाला से अग्नियां लाकर अपने आप को जलाते हैं ।

शङ्खचूड़—(मन ही मन) बड़े कष्ट की बात है । मुझ इकेले के लिए यह विद्याधर कुल सारा ही नष्ट हो रहा है । तो ऐसा (करता हूँ) । (प्रकट) हे तात ! बिना निश्चय किए ही ऐसा साहस करना उचित नहीं । भाग्य के खेल विचित्र हैं । कदाचित् 'यह नाग नहीं है' ऐसा जान कर गरुड़ उसे छोड़ (ही) दे । अतः इसी मार्ग से गरुड़ का पीछा करते हैं ।

वृद्धा—सब प्रकार से देवताओं की कृपा से हम जीते हुए पुत्र का मुख देखेंगे ।

मलयवती—(मन ही मन) मुझ अभागिन के लिए यह दुर्लभ है ।

---

1. आहिताग्नि = अग्निहोत्री । जो घर में यज्ञ की अग्नि सदा जलाए रखते हैं; बुझने नहीं देते ।
2. न विहितः = विधान नहीं किया गया । शास्त्रकारों ने अनुमति नहीं दी ।
3. अग्नीन् = तीन प्रकार की अग्नियां बताई हैं — दक्षिण, गार्हपत्य तथा आहवनीय ।

-वत्स ! अवितथैषा तव भारती भवतु । तथापि साग्नीनामेवास्माकं युक्तमनुसर्तुम् । तदनुसरतु भवान् । वयमप्यग्निशरणादग्निमादाय त्वरितमेवानुगच्छामः ।

[पत्नीवधूसमेतो निष्क्रान्तः ।]

शङ्खचूडः– तद्यावद् गरुडमनुसरामि । (परिक्रम्य अग्रतो निर्दश्य)–

[1]कुर्वाणो रुधिरार्द्रचञ्चुकषणैर्द्रोणीरिवाद्रेस्तटीः,

प्लुष्टोपान्तवनान्तरः स्वनयनज्योतिःशिखासञ्चयैः ।

मज्जद्वज्रकठोरघोरनखरप्रान्तावगाढावनिः

शृङ्गाग्रे मलयस्य पन्नगरिपुर्दूरादसौ दृश्यते ॥१४॥

[ततः प्रविशति आसनस्थः पुरःपतितनायको गरुडः]

गरुडः –(आत्मगतम्) जन्मन. प्रभृति भुजङ्गपतीनश्नता नेदमाश्चर्यं मया दृष्टपूर्वं यदयं महासत्त्वो न केवलं न व्यथते प्रत्युत प्रहृष्ट इव किमपि दृश्यते । तथाहि–

श्लोक नं०: १४, अन्वयः– रुधिरार्द्रचञ्चुकषणैः अद्रेः तटीः द्रोणीः इव कुर्वाणः, स्वनयनज्योतिःशिखासञ्चयैः प्लुष्टोपान्तवनान्तरः, मज्जद्वज्रकठोरघोरनखरप्रान्तावगाढावनिः, असौ पन्नगरिपुः शृङ्गाग्रे दूरात् दृश्यते ॥

जीमूतकेतु—वत्स, तुम्हारी यह वाणी सत्य हो ! फिर भी अग्नि के साथ ही हमारा अनुसरण करना उचित होगा। अतः आप (उसका) अनुसरण करें। हम भी अग्निशाला से अग्नि लेकर शीघ्र ही पीछे पीछे आते हैं।

[पत्नी तथा बहू के साथ प्रस्थान]

शङ्खचूड़— तब मैं गरुड़ का अनुसरण करता हूँ। (घूमकर, आगे देख कर)– रक्त से गीली अपनी चोंच के रगड़ने से पर्वत की तलहिटियों को नावों की तरह (बीच में से गहरी) करता हुआ अपनी आंखों की ज्योति की ज्वालाओं से समीप के वन के मध्यभाग को जलाता हुआ, (मलयभूमि में) घुसने वाले वज्र के समान कठोर भीषण नखों की नोकों से भूमि को खोदता हुआ, यह सांपों का शत्रु (गरुड़) मलयपर्वत की चोटी पर (बैठा हुआ) दूर से (ही) दिखाई दे रहा है।

[सामने पड़े हुए नायक के साथ आसन जमाए गरुड़ का प्रवेश]

गरुड़— (मन ही मन) जन्म से नागराजों को खाते हुए मैंने कभी पहिले ऐसा आश्चर्य नहीं देखा। क्योंकि यह महासत्त्व (महात्मा) केवल व्यथा रहित ही नहीं, अपितु कुछ कुछ प्रसन्न सा दिखाई देता है—। क्योंकिः—

---

1. कृ + शानच् + प्रथमा एक वचन।

[1]ग्लानिर्नाधिकपीयमानरुधिरस्याप्यस्ति धैर्योदधे-
र्मांसोत्कर्तनजा रुजोऽपि वहतः प्रीत्या प्रसन्नं[2] मुखम्।
गात्रं यन्न विलुप्तमेष पुलकस्तत्र स्फुटो लक्ष्यते,
दृष्टिर्मय्युपकारिणीव निपतत्यस्यापकारिण्यपि ॥१५॥

अतः कुतूहलमेव जनितमस्यानया धैर्यवृत्त्या। भवतु, न भक्षयाम्येवैनम्। पृच्छामि तावत्कोऽयमिति [अपसर्पति]

नायकः—(मांसोत्कर्तन विमुखमुपलक्ष्य)—

शिरामुखैः स्यन्दत[3] एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत्, किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्
॥१६॥

गरुडः—(आत्मगतम्) आश्चर्यमाश्चर्यम्! कथमस्यामप्य-वस्थायामेवमूर्जितमभिधत्ते !! (प्रकाशम्)- अहो महासत्त्व !

श्लोक न०: १५, अन्वयः–(मया) अधिकपीयमानरुधिरस्य अपि (अस्य) धैर्योदधेः ग्लानिः न अस्ति, मांसोत्कर्त्तनजाः रुजः वहतः अपि (अस्य) मुखं प्रीत्या प्रसन्नम्। यत् गात्रं न विलुप्तं तत्र एष पुलकः स्फुटो लक्ष्यते; मयि अपकारिण्यपि अस्य दृष्टिः उपकारिणि इव निपतति॥

श्लोक न०: १६, अन्वयः– (मम) शिरामुखैः अद्यापि रक्तं स्यन्दते एव। अद्यापि मम देहे मांसमस्ति तव तृप्तिमपि न पश्यामि। तावत् गरुत्मन्! किं त्वं (मनशरीर-) भक्षणात् विरतः ?

(मेरे) अधिक रक्त पी लेने पर भी (इस) धीरता के समुद्र को कोई ग्लानि (मलिनता) नहीं। माँस के काटने से उत्पन्न हुई पीड़ा को धारण करते हुए भी (इसका) मुख हर्ष से प्रसन्न है। (इसका) जो अङ्ग (अभी तक) नष्ट नहीं हुआ वहां यह रोमाञ्च स्पष्ट दिखाई दे रहा है। (और) मुझ अपकार करने वाले पर भी इसकी दृष्टि ऐसे पड़ रही है मानों किसी उपकारी व्यक्ति पर पड़ रही हो। अतः इसकी इस धैर्य-वृत्ति से मुझे उत्सुकता ही पैदा हुई है। अस्तु, अब और इसे नहीं खाऊँगा। तो पूछता हूँ यह कौन है। (हट जाता है)

नायक—(गरुड़ को मांस के काटने से विमुख हुआ देखकर)—

मेरी नाड़ियों के मुखों से अभी रक्त बह रहा है। अभी तक मेरे शरीर में मांस है। तुम्हारी तृप्ति भी मैं नहीं देख रहा। तो हे गरुड़! तुम (मेरे शरीर को) खाने से क्यों हट गए हो?

गरुड़—(मन ही मन)— आश्चर्य है! आश्चर्य है!! क्या इस दशा में भी, इस प्रकार तेजस्वी वचन बोल रहा है!!! (प्रकट) हे महात्मन्—

---

1. मलिनता; थकावट; कमज़ोरी।
2. प्रसन्न; आनन्दित; शान्त।
3. चू रहा है; बह रहा है।

[1]आवर्जितं मया चञ्च्वा हृदयात्तव शोणितम् ।
अनेन धैर्येण पुनस्त्वया हृदयमेव नः ॥ १७ ॥
तत्कस्त्वमिति श्रोतुमिच्छामि ।

नायकः — एवं क्षुदुपतप्तो न श्रवणयोग्यस्त्वम् । कुरुष्व तावन्मम मांसशोणितेन तृप्तिम् ।

शङ्खचूडः — (सहसोपसृत्य) तार्क्ष्य ! न खलु न खलु साहसमनुष्ठेयम् । नायं नागः । परित्यजैनम् । मां भक्षय । अहं तवाहारार्थं प्रेषितोऽस्मि वासुकिना ।

[इत्युरो ददाति]

नायकः — (शङ्खचूडं दृष्ट्वा सविषादमात्मगतम्) कष्टं ! विफलीकृतो मे मनोरथः शङ्खचूडेनागच्छता ।

गरुड़ः — (उभौ निरूप्य) द्वयोरपि भवतोर्वध्यचिह्नम् । कः खलु नाग इति नावगच्छामि ।

शङ्खचूडः — अस्थान एव भ्रान्तिः ।

श्लोक नं०: १७, अन्वयः—

मया चञ्च्वा तव हृदयात् शोणितम् (एव) आवर्जितम् । त्वया पुनः अनेन धैर्येण नः हृदयमेव (आवर्जितम्) ।

मैं ने तो अपनी चोंच से आपके हृदय से रक्त ही निकाला है ; पर आपने तो इस धैर्य से हमारा हृदय ही हर लिया है (वश में कर लिया है)। अत: मैं यह सुनना चाहता हूँ कि आप कौन हैं।

नायक— इस प्रकार भूख से पीड़ित तुम (अभी) सुनने योग्य नहीं हो। अत: (पहिले) मेरे मांस तथा रक्त से अपनी तृप्ति कर लो।

शङ्खचूड— (सहसा पास जा कर) हे गरुड़ ! मत करो, ऐसा साहस मत करो। यह नाग नहीं है। इसे छोड़ दो। मुझे खाओ। मै ही वासुकि के द्वारा तुम्हारे भोजन के लिए भेजा गया हूँ। [यह कहकर अपनी छाती भेंट करता है]

(शङ्खचूड़ को देखकर, दु:ख के साथ, मन ही मन)—हाय, शङ्खचूड ने आकर मेरे मनोरथ को निष्फल कर दिया !

गरुड—(दोनों को देखकर) तुम दोनों के वध्यचिह्न है। तो कौन (वस्तुतः) नाग है यह मैं नहीं समझ सका।

शङ्खचूड—आप का भ्रम उचित नहीं। (क्योंकि—)

---

1. निकालना; वश में करना; हरना।

आस्तां स्वस्तिकलक्ष्म वक्षसि तनौ नालोक्यते कञ्चुको
जिह्वे [1] जल्पत एव मे न गणिते [2] नाम त्वया द्वे अपि ?
तिस्रस्तीव्रविषाग्निधूमपटल[3]व्याजिह्मरत्न[4]त्विषो
नैता दुःसहशोकशूत्कृतमरुत्स्फीताः फणाः पश्यसि? ॥१८॥

गरुड:- (उभौ निरूप्य, शङ्खचूडस्य फणां दृष्ट्वा)-तत्कः खल्वयं मया व्यापादितः ?

शङ्खचूड:-विद्याधरवंशतिलको[5] जीमूतवाहनः । कथमकारुणिकेन त्वया इदमनुष्ठितम् ?

गरुड:— (स्वागतम्) अये, अयमसौ विद्याधरकुमारो जीमूतवाहनः !

मेरौ मन्दरकन्दरासु हिमवत्सानौ महेन्द्राचले
कैलासस्य शिलातलेषु मलयप्राग्भार[6]देशेष्वपि
[7]दिक्कुञ्जेषु च तेषु बहुशो यस्य श्रुतं तन्मया
लोकालोकविचारिचारणगणैरुद्गीयमानं यशः ॥१९॥

श्लोक नं०: १८, अन्वयः—
वक्षसि स्वस्तिकलक्ष्म आस्ताम् तनौ । कञ्चुको नालोक्यते । जल्पत एव मे द्वे जिह्वे अपि त्वया न गणिते नाम ? तीव्रविषाग्निधूमपटलव्याजिह्मरत्नत्विषः, दुःसहशोकशूत्कृतमरुत्स्फीताः एताः तिस्रः फणाः (अपि किं त्वं) न पश्यसि ?

श्लोक नं:० १९, अन्वयः—
यस्य तत् यशः मेरौ, मन्दरकन्दरासु, हिमवत्सानौ, महेन्द्राचले, कैलासस्य शिलातलेषु, मलयप्राग्भारदेशेषु अपि, तेषु दिक्कुञ्जेषु च लोकालोकविचारिचारणगणैः उद्गीयमानं मया श्रुतम् ।

छाती पर के स्वस्तिक चिह्न को रहने दो; (किन्तु) मेरे शरीर पर की केंचुली (भी क्या आप को) दिखाई नहीं देती ? मेरे बोलते हुए की दो जिह्वाओं को भी आपने नहीं गिना ? भयानक विष की अग्नि के धुँए के समूह से जिन के रत्नों की चमक मलीन हो गई है और जो दु:सह शोक के कारण सू सू कर के निकलती हुई हवा से फैल रहे हैं ऐसे मेरे इन तीन फणों को भी क्या आप नहीं देख रहे ?

गरुड़— (दोनों को अच्छी तरह देखकर, शङ्खचूड़ के फण को देखकर) तो यह कौन मेरे द्वारा मारा गया है ?

शङ्खचूड़— विद्याधरों के वंश का तिलक जीमूतवाहन। निर्दय हो कर तुम ने ऐसा क्यों किया ?

गरुड़— (मन ही मन) अरे, क्या यह वही विद्याधर कुमार जीमूतवाहन है जिस का यश मेरु पर्वत पर, मन्दराचल की कन्दराओं में, हिमालय के उन्नत प्रदेशों में महेन्द्र पर्वत पर, कैलाश पर्वत की चट्टानों पर, मलय पर्वत की चोटियों पर तथा दिशाओं की कुञ्जों में लोकालोक पर्वत पर विचरण करने वाले चारणों से गाया जाता हुआ मैं ने बहुत बार सुना है।

---

1. जल्प + शतृ + पु० + षष्ठी एक वचन।
2. सचमुच; शायद; सम्भवत:; कदाचित्।
3. मलीन; धुंदली।
4. चमक; कान्ति।
5. श्रेष्ठ; शिरोमणि।
6. प्राग्भार=चोटी, शिखर।
7. विभिन्न दिशाओं की कन्दराओं अथवा लताभवनों में।

सर्वथा महत्यंहःपङ्के निमग्नोऽस्मि ।

नायकः— भो फणिपते ! किमेवमुद्विग्नोऽसि ?

शङ्खचूडः—किमस्थानमिदमावेगस्य?[1]

स्वशरीरेण शरीरं तार्क्ष्यात् परिरक्षता मदीयमिदम् ।
युक्तं नेतुं भवता पातालतलादपि तलं माम् ॥२०॥

गरुडः–अये ! करुणार्द्रचेतसानेन महात्मनास्मद्ग्रासगोचर-
पतितस्यास्य फणिनः प्राणान् रक्षितुं स्वदेह आहारार्थ-
मुपनीतः । तन्महदकृत्यमेतन्मया कृतम्[2] । किं बहुना,
बोधिसत्व एवायं व्यापादितः । तस्य महतः पापस्याग्नि-
प्रवेशादृते[3] नान्यत् प्रायश्चित्तं पश्यामि । तत् क्व नु
खलु वह्निं समासादयामि ? (दिशः पश्यन्—) अये !
असौ केऽपि गृहीताग्नय इत एवागच्छन्ति । तद्याव-
देतान् प्रतिपालयामि ।

शङ्खचूडः— कुमार ! पितरौ ते प्राप्तौ ।

नायकः– (ससम्भ्रमम्) शङ्खचूड ! समुपविश्यानेनोत्तरीये-
णाच्छादितशरीरं कृत्वा धारय माम् । अन्यथा कदा-
चिदीदृशं सहसैवं मां दृष्ट्वा पितरौ जीवितं जह्याताम्[4] ।

श्लोक नं०: २०, अन्वयः—

स्वशरीरेण तार्क्ष्यात् मदीयम् इदं शरीरं परिरक्षता भवता मां पातालतलादपि तलं नेतुं युक्तम् ॥

मैं तो सब प्रकार से महान पाप के पङ्क में डूब गया हूँ।

नायक— हे नागराज (शङ्खचूड़) ! तुम ऐसे घबड़ाए हुए क्यों हो ?

शङ्खचूड़— क्या यह घबराने का कारण नहीं ?

अपना शरीर देकर गरुड़ से मेरे इस शरीर की रक्षा करते हुए मुझे पाताल से भी नीचे (नरक में) ले जाना क्या आप के लिए उचित था ?

गरुड़— अरे, दया से आर्द्र चित्त वाले इस महात्मा ने हमारे अहारार्थ आए हुए इस नाग के प्राणों की रक्षा करने के लिए अपने शरीर को (मेरे) खाने के लिए अर्पित कर दिया। तब तो यह मैंने बड़ा अनर्थ किया है। अधिक क्या, यह तो बोधिसत्त्व को ही मार डाला है। इस महान पाप का प्रायश्चित्त अग्नि में जलकर मरने के सिवाय कोई और दूसरा नहीं देख रहा हूँ। तो अग्नि कहाँ पाऊँ ? (चारों ओर देख कर) अरे, यह कुछ लोग आग लिए हुए इधर ही आ रहे हैं। तब तक इन की प्रतीक्षा करता हूँ।

शङ्खचूड़— कुमार ! आप के माता पिता आगए।

नायक— (घबराहट के साथ) शङ्खचूड ! तुम मेरे पास बैठ कर इस चादर से मेरे शरीर को ढक कर मुझे पकड़े रहो। नहीं तो कहीं सहसा ही मुझे इस दशा में देख कर मेरे माता पिता अपने प्राण ही छोड़ दें।

---

1. अस्थानम् = अनुचित स्थान; अकारण; अनुचित।
2. अकृत्यम् = बुरा काम; पाप; अनिष्ट।
3. ,ऋते' के योग में पञ्चमी आती है। अर्थ = विना, अतिरिक्त।
4. जह्याताम् = हा + विधिलिङ् + प्रथम पुरुष + द्विवचन। छोड़ें।

[शङ्खचूडः पार्श्वपतितमुत्तरीयं गृहीत्वा तथा करोति।]

[ततः प्रविशति पत्नीवधूसमेतो जीमूतकेतुः।]

जीमूतकेतुः— (सास्रम्) हा पुत्र जीमूतवाहन !—

आत्मीयः पर इत्ययं खलु कुतः सत्यं कृपायाः क्रमः ?
किं रक्षामि बहून् किमेकमिति ते जाता न चिन्ता कथम् ?
तार्क्ष्यात्त्रातुमहिं स्वजीवितपरित्यागं त्वया कुर्वता,
येनात्मा पितरौ वधूरिति हतं निःशेषमेतत्कुलम् ॥२१॥

वृद्धौ— (मलयवतीमुद्दिश्य) जादे ! विरम मुहुत्तअं। अविरत-
जाते ! विरम मुहूर्त्तकम्। अविरत-
निवडंतबाष्पबिंदूहिं अहिहवीअदि अअं अग्गी।
निपतद्बाष्पबिन्दुभिर् अभिभूयतेऽयमग्निः ।

[सर्वे परिक्रामन्ति]

जीमूतकेतुः— हा पुत्र जीमूतवाहन !

गरुडः— (श्रुत्वा) 'हा पुत्र जीमूतवाहन ! इति ब्रवीति। तद् व्यक्तमयमस्य पिता। तत् किमेतदीयेनाग्निना आत्मान-मुद्दीपयामि ? न शक्नोम्यस्य पुत्रघाताल्लज्जया मुखं

श्लोक नं०: २१, अन्वयः—

अयं आत्मीयः (अयं) परः इति कृपायाः क्रमः कुतः ? (तत्) खलु सत्यम्। (परं) किं बहून् रक्षामि, किमेकं (वा) इति चिन्ता ते कथं न जाता ? येन तार्क्ष्यात् अहिं स्वजीवितपरित्यागं कुर्वता त्वया आत्मा पितरौ वधूरिति निःशेषमेतत्कुलं हतम्।

[शङ्खचूड़ पास ही में पड़ी हुई चादर ले कर वैसे ही करता है]

[पत्नी और पुत्रवधू के साथ जीमूतकेतु का प्रवेश]

जीमूतकेतु — (आंसुओं के साथ) हाय पुत्र जीमूतवाहन !

यह सच है कि कृपा करते हुए यह विचार नहीं किया जाता कि यह अपना है और यह पराया है। परन्तु तुम्हें यह विचार क्यों नहीं हुआ कि बहुतों की रक्षा करूँ अथवा एक की। क्योंकि गरुड़ से सांप को बचाने के लिए तुमने अपने प्राणों का त्याग करके अपने आप को, माता पिता को, अपनी बहू को, इस प्रकार इस समस्त कुल को (ही) नष्ट कर दिया है।

वृद्धा— (मलयवती से) बेटी ! थोड़ी देर ठहर। लगातार गिरते हुए तेरे आंसुओं की बून्दों से यह अग्नि बुझी जा रही है।

[सब घूमते हैं]

जीमूतकेतु— हाय, पुत्र जीमूतवाहन !

गरुड़— (सुनकर) यह तो "हाय पुत्र जीमूतवाहन !" ऐसा कह रहा है। अतः स्पष्ट ही यह इस का पिता होगा। तो क्या मैं इस की अग्नि से अपने आप को जलाऊँ ? इस के पुत्र को मारने के कारण लज्जा से मैं अपना मुंह नहीं दिखा सकता। अथवा,

---

1. रघुवंश—"अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ।"

दर्शयितुम् । अथवा किमग्निहेतो: पर्याकुलोऽस्मि ? समीपस्थ एवास्मि जलनिधे: । तद्यावदिदानीम्—

[1]ज्वालाभङ्गैस्त्रिलोकीग्रसनरसचलत्कालजिह्वाग्रकल्पैः
सर्पद्भिः सप्त सर्पिष्कणमिव कवलीकर्तुमीशे[2] समुद्रान् ।
स्वैरेवोत्पातवातप्रसरपटुतरैर्धुक्षिते पक्षवातै-
रस्मिन् कल्पावसानज्वलनभयकरे वाडवाग्नौ पतामि ॥२२॥

[इत्युत्थातुमिच्छति [

नायकः- भोः पक्षिराज ! अलमनेनाध्यवसायेन[3] । नायं प्रतीकारोऽस्य पाप्मनः ।

गरुड़ः- (जानुभ्यां स्थित्वा कृताञ्जलिः) भो महात्मन् ! कस्तर्हि कथ्यताम् ?

नायकः- प्रतिपालय क्षणमेकम् । पितरौ मे प्राप्तौ । यावदेतौ प्रणमामि ।

गरुड़ः- एवं क्रियताम् ।

जीमूतकेतुः- (दृष्ट्वा सहर्षम्)- देवि ! दिष्ट्या वर्द्धसे । अयमसौ वत्सो जीमूतवाहनो न केवलं ध्रियते, प्रत्युत पुरः कृताञ्जलिना गरुडेन शिष्येणेव पर्युपास्यमानस्तिष्ठति[4] ।

श्लोक न०: २२, अन्वय:- त्रिलोकीग्रसनरसचलत्कालजिह्वाग्रकल्पैः सर्पद्भिः ज्वालाभङ्गैः सप्तसमुद्रान् सर्पिष्कणमिव कवलीकर्तुमीशे उत्पातवातप्रसर पटुतरैः स्वैरेव पक्षवातैः धुक्षिते कल्पावसानज्वलनभयकरे अस्मिन् वाडवाग्नौ पतामि :

अग्नि के लिए मैं इतना व्याकुल क्यों होता हूँ ? मैं तो समुद्र के पास ही हूं। अतः इस समय—

त्रिलोकी को ग्रास करने के आनन्द से चलने वाली काल की जिह्वा के अग्रभाग के समान फैलने वाली अपनी ज्वाला की लहरों से सातों समुद्रों को घी की बूँद की तरह भस्म करने में समर्थ, (तथा) प्रलयकाल की हवा के प्रसार से भी अधिक वेगवान अपने पँखों की हवा से संदीप्त, (और) प्रलयकाल की अग्नि की भांति भयंकर इस वडवाग्नि में (ही मैं) गिर जाऊँगा।

[यह कह कर उठना चाहता है]

नायक—हे पक्षिराज ! ऐसा प्रयत्न मत करो। (इस निश्चय को रहने दो)। इस पाप का यह प्रायश्चित्त नहीं।

गरुड़— (घुटने के बल बैठ कर, हाथ जोड़ कर) हे महात्मा ! तो फिर क्या है, कहिए।

नायक— क्षण भर इन्तज़ार करो। मेरे माता पिता आगए हैं। इन्हें (पहिले) प्रणाम कर लूँ।

गरुड— ऐसा ही कीजिए।

जीमूतकेतु – (देखकर, हर्षपूर्वक) हे देवी, बड़ी प्रसन्नता की बात है। तुम्हें बधाई हो। यह पुत्र जीमूतवाहन केवल जीवित ही नहीं है अपितु सामने ही शिष्य के समान हाथ जोड़े हुए गरुड के द्वारा सेवा किया जा रहा है।

---

1. ज्वालाओं की लहरों से; अर्थात् लहरों के समान एक पर एक आने वाली ज्वालाओं से। 2. ईशे=समर्थ।
3. कार्य, निश्चय, प्रयत्न।
4 सेवित सम्मानित पूजित। परि+उप+आस्+कर्मणि+शानच्।

वृद्धा— महाराअ ! किअत्थम्हि । अक्खदसरीरस्स एव्व
महाराज ! कृतार्थास्मि । अक्षतशरीरस्यैव
पुत्तअस्स मुहं दिट्ठं ।
पुत्रकस्य मुखं दृष्टम् ।

मलयवती— अहं अज्जउत्तं पेक्खिन्ती वि असंभावणीयं ति
अहमार्यपुत्रं प्रेक्षमाणापि असम्भावनीयमिति
करिअ ण पत्तिआमि ।
कृत्वा न प्रत्येमि ।

जीमूतकेतुः - (उपसृत्य) वत्स ! एह्येहि, परिष्वजस्व माम् ।

[नायकः उत्थातुमिच्छन् पतितोत्तरीयो मूर्च्छति]

शङ्खचूडः— कुमार, समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

जीमूतकेतुः-- हा वत्स ! कथं मां दृष्ट्वापि परित्यज्य गतोऽसि?

वृद्धा—हा पुत्तअ ! कहं वाआमेत्तकेण वि, तुए ण संभाविदम्हि ?
हा पुत्रक ! कथं वाङ्मात्रेणापि त्वया न सम्भावितास्मि ?

मलयवती- हा अज्जउत्त ! कहं गुरुअणो वि दे ण पेक्खिदव्वो ?
हा आर्यपुत्र ! कथं गुरुजनोऽपि ते न प्रेक्षितव्यः?

(सर्वे मोहं गच्छन्ति)

शङ्खचूडः —हा शङ्खचूडहतक[1] ! कथं गर्भ एव न विपन्नोऽसि, येनैवं क्षणे क्षणे, मरणातिगं दुःखमनुभवसि ?

गरुडः- सर्वमिदं मम नृशंसस्या[2]समीक्ष्यकारितया विजृम्भि-[3]तम् । तदेवं तावत् करोमि । (पक्षाभ्यां वीजयन्)—

वृद्धा— महाराज, मैं कृतार्थ हो गई। जो मैं ने स्वस्थ शरीर वाले पुत्र का मुख देख लिया।

मलयवती—मैं आर्यपुत्र को देखती हुई भी, इसे असम्भव जान कर, विश्वास नहीं कर रही।

जीमूतकेतु— (पास जा कर) आओ, पुत्र, आओ। मुझे आलिङ्गन करो।

[नायक उठना चाहता है; परन्तु चादर गिर जाती है और वह अचेत हो जाता है]

शङ्खचूड—होश में आओ, कुमार होश में आओ।

जीमूतकेतु— हाय पुत्र, क्या मुझे देखकर भी छोड़ कर चले गए हो?

वृद्धा— हाय पुत्र, क्या केवल वचन से भी तुमने मेरा सम्मान नहीं किया।

मलयवती— हाय नाथ, क्या आप ने गुरुजनों का भी ध्यान नहीं करना था? [सब मूर्च्छित हो जाते हैं]

शङ्खचूड-हाय रे अभागे शङ्खचूड! तू गर्भ में ही क्यों नहीं मर गया। जो इस प्रकार प्रतिक्षण मरण से भी अधिक दुःख अनुभव कर रहा है।

गरुड— यह सब मुझ पापी के विना विचारे काम करने का फल है। तो ऐसा करता हूँ। (पंखों से हवा करता हुआ)हे महात्मन्,

---

1. हतक = अभागा; नीच; घातक। 2. नृशंस = क्रूर; पापी।
3. प्रकट होना; फल।

भो महात्मन् ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

नायकः—(समाश्वस्य) शङ्खचूड ! समाश्वासय गुरून्[1] ।

शङ्खचूडः— तात ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । अम्ब, समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । समाश्वसितो जीमूतवाहनः । किं न पश्यथ ? प्रत्युत युष्मानेव समाश्वासयितु-मुपविष्टस्तिष्ठति । [उभौ समाश्वसितः]

वृद्धा—पुत्त ! कहं पेक्खंताणं ज्जेव्व अम्हाणं किदतहदएण
पुत्र ! कथं प्रेक्षमाणानामेवास्माकं कृतान्तहतकेना-

अवहारीअसि ?
पह्रियसे ?

जीमूतकेतुः— देवि ! मैवममङ्गल्यवादिनी भव । ध्रियत एवा-युष्मान् । तद् वधूः समाश्वास्यताम् ।

वृद्धा— (मुखं वस्त्रेणावृत्य रुदती) पडिहदमसंगलम् । ण रो-
प्रतिहतममङ्गलम्[2] । न रो-

इस्सम् । मलअवदि ! समस्सस ! वच्छे ! उट्ठेहि
दिष्यामि । मलयवति ! समाश्वसिहि । वत्से ! उत्तिष्ठ,

उट्ठेहि । वरं एतिअवेलं तुमं भत्तुणोमुहं पेक्ख ।
उत्तिष्ठ । [3]वरमेतस्यां वेलायांत्वं भर्तृमुखं प्रेक्षस्व ।

मलयवती — (समाश्वसिहि) हा अज्जउत्त !
हा आर्यपुत्र !

वृद्धा—मलयवत्या मुखं पिधाय) वच्छे ! मा एव्वं करोहि ।
वत्से ! मैवं कुरु ।

होश में आइए, होश में आइए।

नायक— (सचेत हो कर) शङ्खचूड ! मातापिता जी को सचेत करो।

शङ्खचूड— हे तात ! सचेत होइए, होश में आइए। हे माता जी, होश में आइए, सचेत होइए। जीमूतवाहन सचेत हो गए हैं। क्या आप उसे देख नहीं रहे ? उलटे आप लोगों को धीरज बन्धाने के लिए उठ बैठे हैं। [दोनों होश में आते हैं]

वृद्धा— पुत्र, क्या हमारे देखते ही देखते नीच यमराज तुम्हें लिए जा रहा है ?

जीमूतकेतु:— देवि, ऐसी अमंगल बात मत कहो। चिरञ्जीवी पुत्र अभी जीवित है। अत: बहू को धीरज बन्धाओ।

वृद्धा— (मुख को कपड़े से ढक कर रोती हुई) अमंगल नष्ट हो ! (अब) में नहीं रोऊंगी। मलयवती, धीरज कर। बच्ची, उठ, उठ। इस समय (तो) पति के मुख को अच्छी तरह देख ले।

मलयवती— (होश में आकर) हाय प्राणनाथ !

वृद्धा— (मलयवती का मुख बन्द करके) बेटी, ऐसा मत कर। यह

---

1. सम् + आ + श्वस् + णिच् + लोट् + मध्यम पुरुष + एक वचन।
2. यह अमंगल दूर हो गया। ईश्वर करे कि यह अमंगल दूर हो !
3. भली प्रकार। अथवा, यह अच्छा है कि...... ।

पडिहदं क्खु एदं ।

प्रतिहतं खल्वेतत् ।

जीमूतकेतुः — (सास्रमात्मगतम्)-

विलुप्तशेषाङ्गतया प्रयातान् निराश्रयत्वादिव कण्ठदेशम् ।

प्राणांस्त्यजन्तं तनयं निरीक्ष्य कथं न पापः शतधा व्रजामि? ॥२३॥

मलयवती— हा अज्जउत्त ! अदिदुक्खरकारिणी क्खु अहं जा

हा आर्यपुत्र ! अतिदुष्करकारिणी खल्वहं या

ईदिसं अज्जउत्तं पेक्खंती अज्जवि जीविअं ण परिच्चआमि।

ईदृशमार्यपुत्रं प्रेक्षमाणापि जीवितं न परित्यजामि

वृद्धा -(नायकस्याङ्गानि स्पृशन्ती गरुडमुद्दिश्य) णिसंस !

नृशंस !

कहं दाणिं तुए एदं आपूरिअमाणणवरूवजोव्वणसोहं

कथमिदानीं त्वया एतदापूर्यमाणनवरूपयौवनशोभं

तं ज्जेव्व एदावत्थं पुत्तअस्स मे सरीरं किदम् ?

तदेवैतदवस्थं पुत्रकस्य मे शरीरं कृतम् ?

नायकः—अम्ब ! मा मैवम् । किमनेन कृतम् ? ननु पूर्व्वमप्ये-तदीदृशमेव परमार्थतः । पश्य —

श्लोक नं०: २३, अन्वयः—

विलुप्त शेषाङ्गतया निराश्रयत्वात् इव कण्ठदेशं प्रयातान् प्राणान् त्यजन्तं तन निरीक्ष्य (अहं) पापः कथं न शतधा व्रजामि ?

अमंगल नष्ट हो ! !

जीमूतकेतु— (आंसुओं के साथ, मन ही मन) शेष सब अङ्गों के नष्ट हो जाने के कारण मानों आश्रय हीन हो कर गले में आए हुए प्राणों को छोड़ते हुए (अपने) पुत्र को देख कर मुझ पापी के हज़ार टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ?

मलयवती— हाय प्राणनाथ ! मैं बड़ी कठोर हृदया हूँ जो आप को इस दशा में देखती हुई भी प्राण नहीं छोड़ती।

वृद्धा—(नायक के अङ्गों को छूती हुई, गरुड़ के प्रति) अरे निर्दय ! नए रूप तथा यौवन से शोभायमान मेरे पुत्र के शरीर को तू ने अब इस दशा में कैसे कर दिया ?

नायक—नहीं, माता जी ऐसा मत कहिए ! इसने क्या किया है ? यह शरीर तो वस्तुतः पहिले भी ऐसा ही था। देखिए—

---

1. त्यज्+शतृ+द्वितीय+एक वचन।
2. कठोर कार्य करने वाली; कठोर हृदया।

मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्[1] सङ्घातेऽस्मिंस्त्वचावृते[2] ।
शरीरे खलु का शोभा सदा बीभत्सदर्शने ? ॥२४॥

गरुडः— भो महात्मन् ! नरकानलज्वालावलीढमिवात्मानं मन्यमानो दुःखं तिष्ठामि । तदुपदिश्यतां, येन मुच्येऽहमस्मादेनसः[3]

नायकः- अनुजानातु मां तातः, यावदस्य पापस्य प्रतिपक्षमुपदिशामि ।

जीमूतकेतुः– वत्स ! एवं क्रियताम् ।

नायकः– वैनतेय ! श्रूयताम् ।

गरुडः- (जानुभ्यां स्थित्वा कृताञ्जलिः) आज्ञापयतु भवान् ,

नायकः–नित्यं प्राणाभिघातात् प्रतिविरम कुरु प्राक्कृते चानुतापं।
यत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचिनु[4] दिशन् सर्वसत्वेष्वभीतिम् ।
मग्नं येनात्र नैनः फलति परिमित प्राणिहिंसात्तमेतद्[5]
दुर्गाधापारवारेर्लवणपलमिव क्षिप्तमतर्न्हृदस्य ॥२५ ।

श्लोक नं०: २४, अन्वयः— मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्सङ्घाते त्वचावृते सदा बीभत्सदर्शने अस्मिन् शरीरेः खलु का शोभा ?

श्लोक नं०: २५, अन्वयः– नित्यं प्राणाभिघातात् प्रतिविरम, प्राक्कृते चानुतापं कुरु । सर्वसत्वेष्वभीतिं दिशन् यत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचिनु येन दुर्गाधापारवारेः ह्रदस्यान्तः क्षिप्तं लवणपलमिव परिमितप्राणिहिंसात्तमेतद् एनः अत्र मग्नं न फलति ।

चर्बी, हड्डी, मांस, मज्जा तथा रक्त के समूह, (ऊपर से) चमड़े से ढके हुए, सदा बीभत्स (घृणा युक्त) दिखाई देने वाले इस शरीर में भला कौन सी सुन्दरता है ?

गरुड़— हे महात्मन् ! नरक की आग की ज्वाला से अपने आप को जला हुआ सा मानता हुआ मैं (बड़े) दुःख से ठहरा हूँ । अतः ऐसा उपदेश दीजिए जिस से मैं इस पाप से छूट जाऊँ ।

नायक— पिता जी, मुझे आज्ञा दें ताकि मैं (इसे) इस पाप का प्रतिकार (प्रायश्चित्त) बताऊँ ।

जीमूतकेतु— पुत्र, ऐसा (ही) करो ।

नायक—हे विनता के पुत्र (गरुड़) ! सुनो ।

गरुड— (घुटनों के बल बैठकर, हाथ जोड़ कर) आप आज्ञा करें ।

नायक— प्रतिदिन प्राणियों की हिंसा से रुको और पहिले किए (पाप) का पश्चात्ताप करो । सब प्राणियों को अभय दान करके यत्न-पूर्वक पुण्यप्रवाह का संग्रह करो जिस से अथाह तथा विस्तृत सरोवर के बीच डाले गए नमक के टुकड़े के समान. (इन) थोड़े से प्राणियों को मारने से उत्पन्न हुआ यह पाप इस में डूब कर (बुरा) फल न दे ।

---

1. असृक् = रक्त, खून ।
2. सङ्घात = समूह
3. एनसः = एनस् + ६ मी + एक वचन
4. सम् + उप + चि + लोट् + मध्यम पु० + एक वचन ।
5. आत्तम् = जातम् ।

गरुडः-- यदाज्ञापयति भवान् —

अज्ञाननिद्राशयितो भवता प्रतिबोधितः ।
सर्वप्राणिवधदेष विरतोऽद्यप्रभृत्यहम् ॥२६॥

सम्प्रति हि—

क्वचिद् द्वीपाकारः पुलिनविपुलैर्भोगनिवहैः[1]
कृतावर्त्तभ्रान्तिर्वलयितशरीरः क्वचिदपि ।
व्रजन् कूलात्कूलं क्वचिदपि च सेतुप्रतिसमः
समाजा नागानां विहरतु महोदन्वति सुखम् ॥२७॥

अपि च,

स्रस्तानापादलम्बाँस्तिमिरचयनिभान्केशहस्तान् वहन्त्यः,
सिन्दूरेणेव दिग्धैः[2] प्रथमरविकरस्पर्शताम्रैः कपोलैः ।
आयासेनालसाङ्ग्योऽप्यवगणितरुजः कानने चन्दनानाम्-
अस्मिन् गायन्तु रागादुरगयुवतयः कीर्तिमेतां तवैव ॥२८॥

श्लोक नं०: २६, अन्वयः—अज्ञाननिद्राशयितो (ऽहं) भवता प्रतिबोधितः ।
एषः अद्य प्रभृत्यहं सर्वप्राणिवधाद् विरतः ।

श्लोक नं०: २७, अन्वयः— क्वचित् पुलिनविपुलैर्भोगनिवहैः द्वीपाकारः, क्वचिदपि वलयितशरीरः कृतावर्त्तभ्रान्तिः, क्वचिदपि च कूलात्कूलं व्रजन् सेतुप्रतिसमः नागानां समाजः महोदन्वति सुखं विऽहरतु ।

श्लोक नं०: २८, अन्वयः—

स्रस्तानापादलम्बान् तिमिरचयनिभान् केशहस्तान् वहन्त्यः, प्रथमरविकरस्पर्शताम्रैः सिन्दूरेणेव दिग्धैः कपोलैः, आयासेनालसाङ्ग्योऽप्यवगणितरुजः, उरगयुवतयः चन्दनानामस्मिन् कानने रागात् तवैव एतां कीर्तिं गायन्तु ।

रुद्र— जो आप की आज्ञा ।

अज्ञान रूपी निद्रा में सोए हुए मुझे आप ने जगा दिया है। यह (लो) आज से मैं सब प्राणियों को मारने से हट गया। अब निश्चय ही—

कहीं रेतीले किनारे के समान विशाल शरीरों से द्वीप की तरह दिखाई देता हुआ, कहीं शरीर को कुण्डलित करने से आवर्त (भंवर) का भ्रम उत्पन्न करता हुआ, और कहीं एक किनारे से दूसर किनारे तक जाता हुआ पुल के समान लगता हुआ नागों का समूह (आज से इस) महासागर में सुखपूर्वक विहार करे।

और भी,—

खुले हुए, पैरों तक लटकने वाले, अन्धकार के समूह के समान (काले), लम्बे बालों को धारण करने वाली, पहिले पहिल दिखाई देने वाली सूर्य की किरणों के स्पर्श से लाल वर्ण हुए सिन्दूर से रंगे हुए से दीखने वाले कपोलों से (सुशोभित), परिश्रम से अलसगात्र होने पर भी क्लेश को न गिनने वाली ये नाग युवतियां इस चन्दन वन में प्रेम से तुम्हारी ही कीर्ति गायें ।

---

1. समूहों में पड़े हुए नाग द्वीपों की भान्ति दिखाई देते हैं और उनके श्वेत फण रेतीले किनारे के समान।
2. लिप्त, लेप लिए हुए, रंगे हुए।

नायकः– साधु महासत्त्व ! साधु !! अनुमोदामहे। सर्वथा दृढसमाधानो भव। (शङ्खचूडं निर्दिश्य)–शङ्खचूड ! त्वयापि स्वगृहमिदानीं गम्यताम्।

[शङ्खचूडः निश्वस्य अधोमुखस्तिष्ठति]

नायकः— (निश्वस्य मातरं पश्यन्)–

उत्प्रेक्षमाणा[1] त्वां तार्क्ष्यचञ्चुकोटिविपाटितम्।
त्वद्दुःखदुःखिता दुःखमास्ते सा जननी तव ॥२६॥

वृद्धा–(सास्रम्) धण्णा क्खु सा जणणी जा गरुडमुहपडि-
धन्या खलु सा जननी, या गरुडमुखपति-
दस्स अक्खदसरीरस्स जेव्व पुत्तअस्स मुहं पेक्खस्सदि।
तस्याक्षतशरीरस्यैव पुत्रकस्य मुखं प्रेक्षिष्यते।

शङ्खचूडः– अम्ब ! सत्यमेवैतत् यदि कुमारः स्वस्थो भविष्यति

नायकः–(वेदनां नाटयन्) अहह ! परार्थसम्पादनामृतरसास्वादाक्षिप्तत्वादेतावतीं वेलां मया न लक्षिताः; सम्प्रति तु मां बाधितुमारब्धा मर्मच्छेदिन्यो वेदनाः।

[मरणावस्थां नाटयति]

जीमूतकेतुः— (ससम्भ्रमम्)– हा वत्स ! किमेवं करोषि ?

श्लोक नं०: २६, अन्वयः—

त्वद् दुःखदुःखिता सा तव जननी त्वां तार्क्ष्यचञ्चुकोटिविपाटितमुत्प्रेक्षमाणा दुःखमास्ते ॥

नायक—खूब, महात्मन्, खूब (कहा) हम (नागों को अभयदान देने का) अनुमोदन करते हैं। सब प्रकार से इस प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना। (शङ्खचूड से) शङ्खचूड! तुम भी अब अपने घर जाओ।

[शङ्खचूड (लम्बी) सांस लेकर नीचे मुख किए ठहरा रहता है]

नायक—(गहरी सांस लेकर, माता को देखते हुए)—तुम्हारे दुःख से दुःखित होने वाली तुम्हारी वह माता तुम्हें गरुड की चोंच से फाड़ा गया समझती हुई दुःखी है (होगी!)

वृद्धा—(आँसुओं के साथ) निश्चय ही वह माता धन्य है जो गरुड के मुख में पड़े हुए (होने पर भी) स्वस्थ शरीर (राज़ी ख़ुशी) अपने पुत्र का मुख देखेगी।

शङ्खचूड—माता जी. यह (तभी) सत्य है यदि कुमार ठीक हो जाएँगे।

नायक—(पीड़ा का अभिनय करते हुए) परोपकार साधन से उत्पन्न अमृत समान रस के पान में मग्न रहने के कारण इतना समय मैं ने पीड़ाओं का अनुभव नहीं किया था परन्तु अब ये मर्म छेदिनी पीड़ाएँ मुझे तंग कर रही हैं।

[मरने की दशा का अभिनय करता है]

जीमूतकेतु—(घबराहट के साथ) हाय पुत्र! ऐसा क्यों करते हो?

---

1. सोचती हुई; शङ्का करती हुई।

वृद्धा— हा ! किं णु क्खु एव्वं वत्तदि ? (सोरस्तडाम्)

हा ! किं नु खल्वेवं वर्त्तते ?

परित्ताअह परित्ताअह । एसो क्खु मे पुत्तओ विवज्जइ ।

परित्रायध्वं परित्रायध्वम् । एष खलु मे पुत्रको विपद्यते ।

मलयवती —हा अज्जउत्त ! परिच्चइदुकामो विअ लक्खीअसि ।

हा आर्यपुत्र ! परित्यक्तुकाम इव लक्ष्यसे ।

नायकः— (अञ्जलिं कर्त्तुमिच्छन्) शङ्खचूड ! समानय मे हस्तौ ।

शङ्खचूडः— (कुर्वन्) कष्टम् !! अनाथीकृतं जगत् ।

नायकः— (अर्द्धोन्मीलितचक्षुः पितरौ पश्यन्) तात ! अम्ब !

अयं मे पश्चिमः प्रणामः । यतः—

गात्राण्यमूनि न वहन्ति सचेतनत्वं
श्रोत्रं स्फुटाऽक्षरपदां न गिरः शृणोति ।
कष्टं निमीलितमिदं सहसैव चक्षु—
र्हा तात ! यान्ति विवशस्य ममासवोऽमि ॥२०॥

अथवा किमनेन प्रलपितेन ।[1]

["संरक्षता पन्नगमेव पुण्यम्"— इत्यादि पूर्वोक्तं श्लोकंपठित्वा पतति]

श्लोक नं०: २०, अन्वयः—

(मम) अमूनि गात्राणि सचेतनत्वं न वहन्ति । श्रोत्रं स्फुटाक्षर-पदां गिरः न शृणोति । कष्टम्, इदं चक्षुः सहसैव निमीलितम् । हा तात [illegible] असवः यान्ति ॥

वृद्धा— हाय, यह ऐसा क्या हो रहा है ? (छाती पीटती हुई) बचाओ बचाओ !. यह मेरा बच्चा मर रहा है।

मलयवती— हाय प्राणनाथ ! (हमें) छोड़ने की इच्छा वाले से दीखते हो।

नायक— (हाथ जोड़ने की इच्छा करता हुआ) शङ्खचूड ! मेरे हाथों को (एक दूसरे के) समीप कर दो।

शङ्खचूड— (वैसा ही करते हुए) हाय, संसार अनाथ कर दिया गया है।

नायक— (आधी खुली आंखों से माता पिता को देखते हुए) हे तात ! हे माता जी !! यह मेरा अन्तिम प्रणाम है। क्योंकि—

ये अंग चेतनाहीन हो गए हैं। कान साफ़ अक्षर तथा शब्दों वाली वाणी (भी) नहीं सुनता। दुःख की बात है कि यह आँख भी सहसा ही बन्द हो रहा है। हे तात ! बेबस हुए हुए मेरे ये प्राण जा रहे हैं॥

अथवा इस प्रलाप से क्या लाभ?

[“संरक्षता पन्नगमेव पुण्यम्” इत्यादि पहिले कहे श्लोक (अंक ४) को पढ़कर गिर पड़ता है]

---

1. क्या लाभ ? इस अर्थ में इस के साथ पञ्चमी आती है।

वृद्धा—हा पुत्त ! हा वच्छ ! हा गुरुअणवच्छल ! कहिं सि ?
हा पुत्र ! हा वत्स ! हा-गुरुजनवत्सल ! क्वासि ?
देहि मे पडिवअणं।
देहि मे प्रतिवचनम्।

जीमूतकेतुः— हा वत्स जीमूतवाहन ! हा प्रणयिजनवल्लभ !
हा सर्वगुणनिधे ! क्वासि ? देहि मे प्रतिवचनम्।
[हास्तवुत्क्षिप्य]। कष्टं भोः कष्टम्।
निराधारं धैर्य्यं, कमिव शरणं यातु विनयः ?
क्षमः क्षान्तिः वोढुं क इह ? विरता दानपरता ?
हतं सत्यं सत्यं, व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
1
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते। २१॥

मलयवती— हा अज्जउत्त ! कहं मं परिच्चइअ गदोसि ?
हा आर्यपुत्र ! कथं मां परित्यज्य गतोऽसि ?
अदिणिग्घिणे मलअवदी ! किं तुए पेक्खिदव्वं ? जा
अतिनिर्घृणे मलयवती ! किं त्वया प्रेक्षितव्यम् ? या
एत्तिअं वेलं जीविआसि !
एतावतीं वेलां जीवितासि !

श्लोक नं०: २१, अन्वयः—

तनय, त्वयि लोकान्तरगते धैर्यं निराधारं (जातम्), विनयः कमिव शरणं यातु ? इह क्षान्तिं वोढुं कः क्षमः ? दानपरता विरता। सत्यं सत्यं हतम्। कृपणा करुणा अद्य क्व व्रजतु ? जगत् शून्यं जातम्॥

वृद्धा—हाय बेटा ! हा प्यारे ! गुरुजनों के प्रिय ! तुम कहां हो ? मुझे जवाब दो !

जीमूतकेतु—हाय पुत्र जीमूतवाहन ! हा प्रेमीजनों के प्यारे ! हा सब गुणों के ख़जाने ! तुम कहां हो ? मुझे उत्तर दो। (हाथों को ऊपर फेंक कर) हाय रे बड़ा कष्ट है !! हे पुत्र तुम्हारे परलोक सिधार जाने पर धैर्य निराश्रय हो गया हैं। विनय किस की शरण ले ? यहां शान्ति को धारण करने में कौन समर्थ है ? दानशीलता समाप्त हो गई। सचाई सचमुच नष्ट हो गई। बेचारी करुणा आज कहां जाए। (तुम्हारे विना) सारा संसार ही सूना हो गया है।

मलयवती—हाय प्राणनाथ ! मुझे छोड़ कर चले गए हो ? अत्यन्त निर्दय मलयवती ! (और) तुझे क्या देखना हैं जो इस समय तक जी रही है ?

---

1. सति सप्तमी।

शङ्खचूड.— हा कुमार ! क्वेमं प्राणेभ्योऽपि वल्लभं जनं परित्यज्य गम्यते ?[1] तदवश्यमन्वेति त्वां शङ्खचूडः ।

गरुडः— (सोद्वेगम्) कष्टम् ! उपरतोऽयं[2] महात्मा । तत् किमिदानीं करोमि ?

वृद्धा— (सास्रमूर्ध्वमवलोक्य) भअवंतोलोअपाला ! कहं पि
भगवन्तो लोकपालाः ! कथमप्य-
अमिदेण सिंचिअ पुत्तअं मे जीआवेहि ।
मृतेन सिक्त्वा पुत्रकं मे जीवयत ।

गरुडः— (सहर्षमात्मगतम्) अये ! अमृतसङ्कीर्त्तनात् साधु स्मृतम् । मन्ये प्रमृष्टमयशः । तद्यावत् त्रिदशपतिमभ्यर्थ्य तद्विसृष्टेनामृतवर्षेण न केवलं जीमूतवाहनम्, एतानपि पूर्वभक्षितानस्थिशेषानाशीविषान् प्रत्युज्जीवयामि । यदि न ददात्यसौ, तदाहम्—

पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः, पटुजवपवनप्रेर्यमाणे समीरे-
नेत्रार्चिः[3] प्लोषमूर्च्छाविधुरविनिपतत्सानलद्वादशार्कः ।
चञ्च्वा[4] सञ्चूर्ण्य शक्राशनिधनदगदाप्रेतलोकेशदण्डा
नन्त· संमग्नपक्षः क्षणममृतमयीं वृष्टिमभ्युत्सृजामि ॥३२॥

श्लोक नं०: ३२, अन्वयः—

पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः, पटुजवपवनप्रेर्यमाणे समीरे, नेत्रार्चिप्लोष-मूर्च्छाविधुरविनिपतत्सानलद्वादशार्कः, शक्राशनिधनदगदाप्रेतलोकेशदण्डान् चञ्च्वा सञ्चूर्ण्य अन्तः क्षणं संमग्नपक्षः अमृतमयीं वृष्टिमभ्युत्सृजामि ।

शङ्खचूड़—हाय कुमार! प्राणों से भी प्यारे इन प्रियजनों को छोड़कर कहां जा रहे हो? शङ्खचूड तो अवश्य ही तुम्हारे पीछे (ही) आएगा।

गरुड़—(दु:खपूर्वक) हाय कष्ट! यह महात्मा मर गया। तो अब क्या करूं?

वृद्धा—(आंसुओं के साथ, ऊपर देख कर) हे भगवान लोकपालो! कैसे भी अमृत से सींच कर मेरे बच्चे को जीवित कर दो।

गरुड—(हर्षपूर्वक, मन ही मन) अहा, अमृत के नाम से खूब याद आया। मेरा विचार है (अब मेरा) अपयश मिट गया। अत: इन्द्र से प्रार्थना कर के उन से छोड़ी गई अमृत की वर्षा से न केवल जीमूतवाहन को ही अपितु इन पहिले से खाए गए अस्थिमात्रावशेष साँपों को भी फिर से जिला दूंगा। यदि वह नहीं देगा, तो मैं—

पंखों से वरुण को दूर, फैंक कर, बड़े ज़ोर की हवा से पवन देवता को भी (तिनके की तरह) हटा कर, अपने नेत्रों की ज्वाला से जलाने से मूर्छित तथा व्याकुल अग्नि के साथ बारहों सूर्यों को (भी) अपने २ स्थानों से गिरा कर, इन्द्र के वज्र को, कुबेर की गदा को तथा यमराज के दण्ड को अपनी चोंच से चूर २ कर के, अमृत के बीच क्षण भर अपने पंखों को डुबा कर मैं अमृत की वर्षा कर दूँगा।

---

1. अनु + इ + लट् + प्रथम पुरुष + एक वचन।
2. उप + रम् + क्त + प्रथमा एक वचन।
3. प्लोष: = जलाना।
4. सम् + चूर्ण् + ल्यप्

तदयं गतोऽस्मि।

[इति साटोपं परिक्रम्य निष्क्रान्तः]

जीमूतकेतुः–वत्स शङ्खचूड ! किमद्यापि[1] स्थीयते?[2] समाहृत्य दारूणि पुत्रस्य मे विरचय चितां येन वयमप्यनेन सहैव गच्छामः।

वृद्धा—पुत्त संखचूडः ! लहु सज्जेहि। दुक्खं अम्हेहि विणा
पुत्र शङ्खचूड़ ! लघु सज्जय । दुःखमस्माभिर्विना[3]
भादुओ दे चिट्ठदि।
भ्राता ते तिष्ठति ।

शङ्खचूडः– (सास्रम्) यदाज्ञापयन्ति गुरवः। नन्वग्रग एवाहं युष्माकम् [उत्थाय चितारचनां कृत्वा] तात ! अम्ब ! सज्जीकृतेयं चिता।

जीमूतवाहनः–कष्टं भोः कष्टं !

उष्णीषः स्फुट एष मूर्धनि विभात्यूर्णेयमन्तर्भ्रुवो-
श्चक्षुस्तामरसानुकारि, हरिणा वक्षःस्थलं स्पर्धते।[4]
चक्राङ्कौ चरणौ, तथापि हि कथं हा वत्स ! मद्दुष्कृतै-
स्त्वं विद्याधरचक्रवर्तिपदवीमप्राप्य विश्राम्यसि ॥२३॥

श्लोक नं०ः २३, अन्वयः– (तव) मूर्धनि एष उष्णीषः स्फुटः विभाति, भ्रुवोः अन्तः इयम् ऊर्णा; चक्षुः तामरसानुकारि; वक्षःस्थलं हरिणा स्पर्धते; चरणौ चक्राङ्कौ; तथापि हि हा वत्स ! कथं मद्दुष्कृतैः त्वं विद्याधर चक्रवर्तिपदवीमप्राप्य विश्राम्यसि ?

तो यह मैं चला। [यह कहकर गर्व के साथ घूम कर चला जाता है

जीमूतकेतु—बेटा शङ्खचूड ! अब क्यों ठहरे हो ? लकड़ियां लाकर मेरे पुत्र की चिता तैयार करो जिस से हम भी इसी के साथ ही (मर) जाएँ।

वृद्धा—पुत्र शङ्खचूड ! शीघ्र तैयार करो। हमारे विना तुम्हारा भाई दु:खी होगा।

शङ्खचूड—(आंसुओं के साथ) जो गुरुजनों की आज्ञा। मैं भी आप के आगे ही जाने वाला हूँ। (उठकर, चिता बना कर) हे तात ! माता जी !! यह चिता तैयार है।

जीमूतवाहन— हाय रे, बड़ा कष्ट हो रहा है !

(तेरे) मस्तक पर यह उष्णीष (मुकुटबन्ध) का चिन्ह स्पष्ट रू से शोभित है, भौहों के बीच में ऊर्णा (भौरी, आवर्त, रो समूह) है, आंख लाल कमल के समान है, छाती हरि (शे अथवा विष्णु) की बराबरी करती है. दोनों पैरों में चक्र निशान हैं। फिर भी, (चक्रवर्ती राजा के इन सब चिन्हों विभूषित होने पर भी), हे पुत्र, कैसे मेरे बुरे कर्मों के कारण विद्याधरों के चक्रवर्ती का पद पाए बिना ही विश्राम कर रहे

---

1. स्था+कर्मवाच्य+लट्+प्रथम पुरुष+एक वचन।
2. सम्+आ+हृ+ल्यप्।
3. विना के योग में तृतीया।
4. दुष्कृत=पाप; बुरे कर्म।

देवि, किमपरं रुद्यते ? तदुत्तिष्ठ चितायामारोहामः ।

[सर्वे उत्तिष्ठन्ति]

मलयवती—(बद्धाञ्जलिरूर्ध्वं पश्यन्ति)—भअवदि गौरि !

भगवति गौरी !

तुए आणत्तं जहा 'विज्जाहरचक्कवट्टी भट्टा दे भविस्सदि' त्ति

त्वयाज्ञप्तं[1], यथा—विद्याधरचक्रवर्ती भर्ता ते भविष्यतीति ।

ता कहं मम मन्दभग्गाए किदे तुमं पि अलीअवादिणी संवुत्ता ?

तत्कथं मम मन्दभाग्यायाः [2]कृते त्वमप्यलीकवादिनी संवृत्ता ?

[ततः प्रविशति ससम्भ्रमा गौरी]

गौरी—महाराज जीमूतकेतो ! न खलु न खलु साहसमनुष्ठातव्यम् ।

जीमूतकेतुः—अये कथममोघदर्शना गौरी ?

गौरी—(मलयवतीमुद्दिश्य)-वत्से कथमहमलीकवादिनी भवेयम् ?

(नायकमुपसृत्य कमण्डलुजलेनाभ्युक्षन्ती)—

निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणः ।
परितुष्टास्मि ते वत्स ! जीव जीमूतवाहन ॥३४॥

[नायकः उत्तिष्ठति]

जीमूतकेतुः—(सहर्षं) देवि दिष्ट्या वर्धसे ! प्रत्युज्जीवितो वत्सः ।

श्लोक नं०: ३४, अन्वयः— हे वत्स जीमूतवाहन ! निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणः ते परितुष्टास्मि । जीव ।

देवि, और अधिक क्यों रोती हो ? अतः उठो, चिता पर चढ़ें .

[सब उठते हैं]

मलयवती— (हाथ जोड़ कर, ऊपर देखती हुई) भगवती गौरी ! आप ने आज्ञा की थी कि "विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा तेरा पति होगा" । तो क्या मुझ अभागिन के कारण आप भी झूठ बोलने वाली हो गईं ?

[जल्दी से गौरी का प्रवेश]

गौरी— महाराज जीमूतकेतु ! ऐसा साहस मत कीजिए ।

जीमूतकेतु— अरे, क्या गौरी जी हैं जिन का दर्शन कभी निष्फल नहीं गया ?

गौरी— (मलयवती से) पुत्री, मैं कैसे झूठ बोलने वाली हो सकती हूँ

(नायक के पास जा कर कमण्डलु के जल से छींटे देती हुई)—

हे पुत्र जीमूतवाहन ! अपना जीवन देकर संसार का उपकार करने वाले तुम पर मैं प्रसन्न हूँ । जीते रहो ।

[नायक उठता है]

जीमूतकेतु— (हर्ष पूर्वक) देवि, बड़ी प्रसन्नता की बात है; तुम्हें बधाई हो । (मेरा) बच्चा जी पड़ा ।

---

1. प्रथम अङ्क में ।
2. क्रुवे के योग में षष्ठी ।

वृद्धा–भअवदीए पसादेण ।

[भगवत्याः प्रसादेन । [उभौ गौर्याः पादयोः पतित्वा नायकमालिङ्गतः]

मलयवती–(सहर्ष)-दिट्ठिआ पच्चुजीविदो अज्जउत्तो ।

दिष्ट्या प्रत्युज्जीवित आर्यपुत्रः ।

[गौर्याः पादयोः पतति]

नायकः–(गौरीं दृष्ट्वा बद्धाञ्जलिः) भगवति !

अभिलाषिताधिकवरदे ! [1] प्रणिपतितजनार्त्तिहारिणि ! [2] शरण्ये !

चरणौ नमाम्यहं ते विद्याधर देवते ! गौरि ! ॥३५॥

[इति गौर्याः पादयोः पतति]

[सर्वे ऊर्ध्वं पश्यन्ति]

जीमूतकेतुः–अये ! कथमनभ्रा वृष्टिः ! भगवति किमेतत् ?

गौरी–राजन् जीमूतकेतो ! जीमूतवाहनं प्रत्युज्जीवयितुमेतां-श्चास्थिशेषानुरगपतीन् समुपजातपश्चात्तापेन पक्षिपतिना देवलोकादियममृतवृष्टिः पातिता[3]। (अङ्गुल्या निर्दिश्य)-किं न पश्यति भवान्[4] ?—

श्लोक नं०, २५, अन्वयः–अभिलषिताधिकवरदे ! प्रणिपतितजनार्त्तिहारिणि ! शरण्ये ! विद्याधरदेवते ! गौरि ! अहं चरणौ ते नमामि ।

द्वा— भगवती की कृपा से। [दोनों गौरी के चरणों पर गिर कर नायक को छाती से लगाते हैं]

मलयवती— (हर्ष पूर्वक) बड़ी खुशी की बात है। प्राणनाथ जी उठे।

[गौरी के चरणों पर गिरती है]

नायक— (गौरी को देख कर, हाथ जोड़ कर) भगवती!

इच्छा से भी अधिक वर देने वाली, भक्तजनों के कष्टों को दूर करने वाली, शरण देने वाली, विद्याधरों की कुलदेवी, हे गौरी मैं आप के चरणों में प्रणाम करता हूँ।

[यह कह कर गौरी के चरणों पर गिरता है]

[सब ऊपर देखते हैं]

जीमूतकेतु— अरे, यह बिना बादल के वर्षा कैसे? भगवती, यह क्या (बात) है?

गौरी— हे राजन् जीमूतकेतु! जीमूतवाहन और इन अस्थिशेष नागराजाओं को पुनर्जीवित करने के लिए पश्चात्ताप करने वाले गरुड़ के द्वारा स्वर्ग से यह अमृतवर्षा की गई है। (उङ्गली से इशारा करके) क्या आप देख नहीं रहे?—

---

1. जो आगे गिरते हैं; जो प्रणाम करते हैं; जो झुकते हैं; भक्त।
2. शरण देने वाली; रक्षा करने वाली; जिस की शरण ली जाए।
3. पत्+णिच्+क्त+स्त्री लिङ्ग+प्रथमा एक वचन।
4. भवान् का प्रयोग प्रथम पुरुष में होता है।

सम्प्राप्ताखण्डदेहाः स्फुटफणमणिभिर्भासुरैरुत्तमाङ्गै-
र्जिह्वाकोटिद्वयेन क्षितिममृतरसास्वादलोभाल्लिहन्तः
सम्प्रत्याबद्धवेगा मलयगिरिसरिद्वारिपूरा इवामि[1]
वक्रैः प्रस्थानमार्गैर्विषधरपतयस्तोयराशिं विशन्ति ॥३६॥

(नायकमुद्दिश्य) वत्स जीमूतवाहन ! न त्वं जीवितदान-
मात्रस्यैव योग्यः । तदयमपरस्ते प्रसादः—

हंसांसाहतहेमपङ्कजरजः सम्पर्कपङ्कोज्झितै-
रुत्पन्नैर्मम मानसादुपनतैस्तोयैर्महापावनैः[2] ।
स्वेच्छानिर्मितरत्नकुम्भनिहितैरेषाभिषिच्य स्वयं
त्वां विद्याधरचक्रवर्तिनमहं प्रीत्या करोमि क्षणात् ॥३७॥

श्लोक नं०: ३६, अन्वयः—

सम्प्राप्ताखंडदेहः, स्फुटफणमणिभिर्भासुरैरुत्तमाङ्गैः, अमृतरसास्वादलोभात् जिह्वाकोटिद्वयेन क्षितिं लिहन्तः, अमी विषधरपतयः सम्प्रति मलयगिरिसरिद्वारिपूरा इव आबद्धवेगाः वक्रैः प्रस्थानमार्गैः तोयराशिं विशन्ति ।

श्लोक नं:० ३७, अन्वयः—

हंसांसाहतहेमपङ्कजरजःसम्पर्कपङ्कोज्झितैः, मम मानसात् उत्पन्नैः, स्वेच्छानिर्मितरत्नकुम्भनिहितैः उपनतैः महापावनैः तोयैः एषा अहं स्वयं त्वाम् अभिषिच्य प्रीत्या क्षणात् विद्याधरचक्रवर्तिनं करोमि ।

(अमृत के प्रभाव से) अपनी पूर्ण देह प्राप्त किए हुए, साफ़ फण की मणियों से जिनके मस्तक चमक रहे हैं, अमृत के रस के लोभ के कारण अपनी जिह्वा की दोनों नोकों से पृथ्वी को चाटते हुए ये नागराज अब मलय पर्वत से बहने वाली नदी के जल-प्रवाह की भान्ति प्रबल वेग से टेढ़े मेढ़े मार्गों से समुद्र में प्रवेश कर रहे हैं।

(नायक से) वत्स जीमूतवाहन ! तुम केवल जीवन दान के ही योग्य नहीं हो। अतः यह तुम्हारे लिए दूसरा वरदान है-हंसों के कन्धों से हिलाए गए स्वर्ण कमलों के पराग के सम्पर्क से उत्पन्न हुए पङ्क से रहित, मेरे मानस (मन) से पैदा हुए, अपनी इच्छा से रचे रत्नों के घड़ों में रखे हुए स्वेच्छा प्राप्त, परम पवित्र जल से यह मैं स्वयं तुम्हारा अभिषेक करके प्रेम से शीघ्र ही विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा बनाती हूँ।

---

1. सांपों की नदी के जलप्रवाह से तुलना की गई है क्योंकि वे भी सफेद हैं और टेढ़े मेढ़े रास्तों से होकर समुद्र में प्रवेश कर रहे हैं।

2. उपनतैः=प्राप्तैः; समुद्भूतैः; आनीतैः;

अपि च,

अग्रेसरी भवतु काञ्चनचक्रमेतदेष द्विपश्च धवलो दशनैश्चतुर्भिः।
श्यामो हरिर्[1]मलयवत्यपि चेत्यमूनि रत्नानि ते समवलोकय
चक्रवर्तिन्! ॥३८॥

अपि च, आलोक्यन्ताममी मत्प्रचोदिताः शारदशशाङ्कनिर्मल-
बालव्यजनहस्ताश्चटुलचूडामणिमरीचिरचितेन्द्रचाप-
पंक्तयो भक्त्यावनतपूर्वकायाः प्रणमन्ति मतङ्गदेवादयो
विद्याधरपतयः। तदुच्यतां, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि?

नायकः—(जानुभ्यां स्थित्वा) अतः परमपि प्रियमस्ति?

त्रातोऽयं शङ्खचूडः पतगपतिमुखाद्वै[2]नतेयो विनीत-
स्तेन प्राग्भक्षिता ये विषधरपतयो जीविवतास्तेऽपि सर्वे।
मत्प्राणाप्त्या विमुक्ता न गुरुभिरसवश्चक्रवर्त्तित्वमाप्तं,
साक्षात् त्वं देवि! दृष्टा प्रियमपरमतः किं पुनः प्रार्थ्यते यत्॥३९॥

श्लोक नं०: ३८, अन्वयः—
एतत् काञ्चनचक्रम् अग्रेसरीभवतु; चतुर्भिः दशनैः एष धवलो द्विपश्च; श्यामो हरिः; मलयवत्यपि च, इति अमूनि ते रत्नानि चक्रवर्तिन्! समवलोकय।

श्लोक नं०: ३९, अन्वयः—
पतगपतिमुखात् अयं शङ्खचूडः त्रातः; वैनतेयः विनीतः; तेन प्राग्भक्षिता ये विषधरपतयः तेऽपि सर्वे जीविताः; मत्प्राणाप्त्या गुरुभिः असवः न विमुक्ताः; चक्रवर्तित्वमाप्तम्; देवि त्वं साक्षात् दृष्टा; पुनः अतः अपरं प्रियं किं यत् प्रार्थ्यते?

यह स्वर्ण चक्र तुम्हारे सन्मुख उपस्थित हो (अथवा, है); और चार दान्तों वाला यह सफेद हाथी, काले रँग वाला घोड़ा और मलयवती भी। ये तुम्हारे रत्न हैं। हे चक्रवर्ती (राजा)! अच्छी तरह देख लो। और भी, देखो मेरे द्वारा प्रेरित, शरत् कालीन चन्द्रमा के समान निर्मल छोटे २ चँवर हाथों में लिए हुए, चञ्चल चूड़ामणि की किरणों से इन्द्रधनुष की पंक्तियां सी बनाते हुए, भक्ति भाव से सिर झुकाए हुए, ये मतङ्गदेव आदि विद्याधरों के राजालोग तुम्हें प्रणाम कर रहे हैं।

तो कहो इस से अधिक और तुम्हारा क्या उपकार करूँ ?

नायक—(घुटनों के बल बैठ कर) क्या इस से भी अधिक कोई प्रिय वस्तु है ?

गरुड़ के मुख से यह शङ्खचूड बचा लिया गया है; गरुड़ विनीत हो गया है; उस के द्वारा पहिले खाए गए जो नागराज थे वे भी सब पुनर्जीवित हो गए हैं; मेरे फिर से प्राण धारण करने से माता पिता ने प्राण नहीं त्यागे; चक्रवर्ती पद भी मिल गया; (और) देवी, आप के साक्षात् दर्शन हो गए। फिर इस से बढ़ कर अधिक प्रिय वस्तु कौनसी हो सकती है जिस के लिए प्रार्थना की जाए ?

---

1. हरिः = घोड़ा।

2. विनता का पुत्र, गरुड़।

तथापीदमस्तु — [भरत वाक्यम्]—

वृष्टिं हृष्टशिखण्डिताण्डवभृतो मुञ्चन्तु काले घनाः,
कुर्वन्तु प्रतिरूढसन्ततहरिच्छस्योत्तरीयां क्षितिम्।
चिन्वानाः सुकृतानि वीतविपदो निर्मत्सरैर्मानसै—
र्मोदन्तां घनबद्धबान्धवसुहृद्गोष्ठीप्रमोदाः प्रजाः ॥४०॥

अपि च—

शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥४१॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ इति नागानन्दम् ॥

श्लोक नं०: ४०, अन्वयः—

हृष्टशिखण्डिताण्डवभृतो घनः काले वृष्टिं मुञ्चन्तु; प्रतिरूढसन्ततहरिच्छस्योत्तरीयां क्षितिं कुर्वन्तु; प्रजाः वीतविपदः निर्मत्सरैः मानसैः सुकृतानि चिन्वानाः घनबद्धबान्धवसुहृद्गोष्ठीप्रमोदाः मोदन्ताम् ॥

श्लोक नं०: ४१, अन्वयः—

सर्वजगतां शिवमस्तु; भूतगणाः परहितनिरता भवन्तु; दोषाः नाशं प्रयान्तु; लोकः सर्वत्र सुखी भवतु ॥

———

फिर भी यह हो— (भरतवाक्य)—

प्रसन्न हुए मोरों को नचाते हुए बादल समय पर वर्षा करें और पृथ्वी को उगे हुए घने हरे धानों की चादर से ढक दें। [तथा प्रजा के लोग विपत्तियों से मुक्त हो ईर्ष्या-रहित मनों से पुण्य सञ्चय करते हुए बन्धुओं तथा मित्रों के साथ घनी गोष्ठियों में आनन्द मनाते हुए प्रसन्न रहें।

और भी—

सारे विश्व का कल्याण हो। सब प्राणी दूसरों के हित करने में लगे रहें। सब दोष न हों। (और) लोग सर्वत्र सुखी हों।

[सब का प्रस्थान]

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त ॥

॥ नागानन्द (नाटक) समाप्त ॥

---

1. चि+शानच्+प्रथमा बहुवचन।

"परिशिष्ट"

I भौगोलिक तथा ऐतिहासिक उल्लेख

प्रथम अंक:—

१. अनङ्ग=कामदेव! जब देवताओं को यह पता लगा कि राक्षस तारक से बचाने में पार्वती का पुत्र ही सहायक हो सकता है और पार्वती शिवजी को छोड़ और किसी से विवाह नहीं करेगी तो कामदेव ने कहा कि मैं प्रयत्न करता हूँ कि शिवजी पार्वती से शादी करने पर राज़ी हो जाएँ। शिवजी उस समय तपस्या में लीन थे। कामदेव द्वारा तपस्या भङ्ग होने से शिवजी अति क्रुद्ध हुए और उनके तृतीय नेत्र से ऐसी अग्नि निकली जिसने कामदेव के शरीर को जला कर राख कर दिया। फिर कामदेव की पत्नी रति के अनुनय विनय करने पर शिवजी ने कामदेव को जिला तो दिया परन्तु शरीर नहीं दिया। अतएव उसे अनङ्ग अर्थात् अङ्गरहित कहते हैं।

२. बुद्ध=जिस को अन्तर्ज्ञान प्राप्त हो गया हो। बौद्धमत के प्रवर्तक शाक्यमुनि को बुद्ध कहते हैं क्योंकि उन्हें परम ज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। उन का जन्मनाम सिद्धार्थ था। वे कपिलवस्तु में उत्पन्न हुए थे और ५४३ पूर्वसा उनका देहान्त हुआ। उनके पिता शाक्यराज शुद्धोदन थे और उनकी माता का नाम था माया देवी। उन का विवाह राजकुमारी यशोधरा से हुआ था। उस से उनके राहुल नामी एक पुत्र भी हुआ था। पुराणों में बुद्ध को विष्णु का नवाँ अवतार भी माना है।

३. **जिन**=विजयी। बुद्ध को जिन भी कहते हैं क्योंकि उन्हों ने जीवन इन्धनों पर विजय प्राप्त की थी। मार की अप्सराओं की चेष्टाओं का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ था और वे पूर्ण रूप से शान्त रहे थे।

४. **इन्द्रोत्सव**=देवराज इन्द्र के उपलक्ष में मनाया जाने वाला महोत्सव। इस को इन्द्रध्वज महोत्सव भी कहते हैं। रघुवंश में भी इस का उल्लेख मिलता है। वर्षा की यथेष्ट प्राप्ति के लिए राजालोग भाद्रशुक्लाद्वादशी को इन्द्र के झण्डे का जलूस निकालते थे। कहते हैं सर्व प्रथम संस्कृत नाटक इसी अवसर पर अभिनीत हुआ था।

५. **मतङ्ग**=यह जीमूतवाहन का प्रतिपक्षी है। जब जीमूतवाहन वन में माता पिता की सेवा के लिए गया हुआ था तो उस की अनुपस्थिति में मतङ्ग ने उसके राज्य को आत्मसात् कर लिया। परन्तु जब गौरी ने जीमूतवाहन को विद्याधरोंका सम्राट् नियुक्त कर दिया तो मतङ्ग भी आकर उनके आगे नतमस्तक हुआ।

६. **मलयपर्व्वत**=दक्षिण भारत में एक पर्वत श्रेणी है। इस में चन्दन वृक्षों का बाहुल्य है। कवि लोग प्रायः ऐसा वर्णन करते हैं कि दक्षिण की ओर से आने वाली वायु इन चन्दनवृक्षों की सुगन्धि को लेकर आती है।

७. **शशभृत्**=चन्द्रमा। कहते हैं कि चन्द्रमा के बीच जो कलङ्क सा है वह आकार में ख़रगोश से मिलता जुलता है। अतएव चन्द्र को शशभृत् अथवा शशाङ्क (ख़रगोश के चिन्ह वाला) कहते हैं।

द्वितीय अंक:—

८. कुसुमायुध=कामदेव। फूल ही जिस के हथियार हैं। कहते हैं कामदेव फूलों के तीरों का प्रयोग करता है। पांच प्रकार के पुष्प उसके बाण बताये हैं— अरविन्द, अशोक, आम्र पुष्प नवमल्लिका तथा नीलोत्पल।

९. गान्धर्व विवाह=विवाह आठ प्रकार के बताए हैं:— ब्राह्म; दैव; आर्ष; प्राजापत्य; आसुर; गान्धर्व; राक्षस तथा पैशाच। गान्धर्व रूप में विवाह बिना किसी आडम्बर तथा संस्कारों के निश्चित हो जाता है। वर तथा वधू ज्यों ही मिलते हैं देखते ही प्रेमासक्त हो जाते हैं और वहीं विवाह बन्धन में बन्धे जाते हैं।

तृतीय अंक:—

१०. बलदेव=श्री कृष्ण के बड़े भाई। वसुदेव तथा देवकी की सातवीं सन्तान। जब यह गर्भ में थे तो देवकी का गर्भ रोहिणी में डाल दिया गया था ताकि कंस इन्हें न मार सके। श्री कृष्ण तथा बलराम दोनों का पालन पोषण गोकुल में नन्द के घर हुआ था इन को आसव (शराब) का बहुत शौक था और इस के प्रभाव से कई विस्मय जनक कार्य किया करते थे। इन का हथियार प्रायः हल होता था; अतएव इन्हें हलायुध भी कहते हैं। इन का विवाह रेवती के साथ हुआ था।

कामदेव=प्रेम के देवता। श्री कृष्ण तथा रुक्मणि के पुत्र। रति के पति। वसन्त के घनिष्ट मित्र। अनिरुद्ध के पिता। इन के

हथियार तीरकमान हैं— तीर फूलों के (देखो ऊपर नं०: ८) और कमान की डोरी भँवरों की पंक्ति। अधिक विस्तार के लिए देखिए ऊपर टिप्पण (१)

१२. पितामह= दादा = पिता के पिता। प्राय: ब्रह्मा को पितामह कहते हैं क्योंकि वे दस प्रजापतियों के पिता हैं, जिन से कि सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

चतुर्थ अंक: —

१३. वैनतेय= विनता का पुत्र, गरुड़। विनता के दो पुत्र थे। दूसरा, अरुण, सूर्य का सारथि है। इन के पिता का नाम कश्यप था। गरुड़ पक्षियों का राजा कहलाता है। वह सांपों का शत्रु है। गरुड विष्णु की सवारी है। कहते हैं एक बार विनता तथा सांपों की माता कद्रु में झगड़ा हो गया कि इन्द्र के घोड़े का रंग क्या है। इसमें विनता को हार हुई और शर्त के अनुसार उसे कद्रु को दासी बन कर रहना पड़ा। उसे मुक्त कराने के लिए गरुड़ इन्द्र से लड़ कर अमृत लाया। विनता तो मुक्त हो गई परन्तु अमृत को इन्द्र सांपों से छीन ले गया।

१४. विश्वामित्र=वस्तुत: विश्वामित्र एक क्षत्रिय राजा थे। वे गाधि के पुत्र थे उनकी राजधानी कान्यकुब्ज थी। एक दिन शिकार खेलते खेलते वे वसिष्ठ जी के आश्रम में पहुंचे। वहां उन्हों ने कामधेनु देखी। उसे पाने के लिए उन्हों ने अमित धन सम्पत्ति देने को कहा, परन्तु वसिष्ठ जी ने उसे स्वीकार नहीं किया। विश्वामित्र बलात् ले जाना चाहते थे, परन्तु मुँह की खाई। इस पराजय से वे बहुत खिसियाना हुए।

ब्रह्मण्य की शक्ति का उन पर बड़ा प्रभाव हुआ। अतः वे भी घोर तपस्या करने लगे। यहां तक कि लोग उन्हें क्रमशः राजर्षि, ऋषि, महर्षि और ब्रह्मर्षि कहने लगे। परन्तु जब तक स्वयं वसिष्ठ जी ने आकर उन्हें ब्रह्मर्षि नहीं कहा तब तक उन को सन्तोष नहीं हुआ। इस को कई सहस्र वर्ष लग गए। परन्तु इन की शक्ति इस से कहीं पहिले भी दृष्टिगोचर होने लगी थी। एक बार इन्द्र के हाथों से शुनःशेप को छुड़ाने के लिए इन्हों ने त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग को भेज दिया। श्री रामचन्द्र जी को भी इन्हों ने कई दिव्य जृम्भकास्त्रादि दिए थे।

एक बार घोर अकाल पड़ा। भोजन की खोज में घूमते घूमते विश्वामित्र जी चांडालों के एक ग्राम में पहुंचे। वहां एक घर में उन्हें कुत्ते का मांस दिखाई दिया। रात्री के समय जब घर वाले सो रहे थे तो उन्हों ने वह मांस चुराने का प्रयत्न किया परन्तु एक चंडाल जाग रहा था। उस ने पकड़ लिया। जब उसे यह ज्ञान हुआ कि यह विश्वामित्र हैं तो उनसे वाद-विवाद करने लगा कि क्या यह आप के लिए उचित था। उन्हों ने उत्तर दिया कि जब अपना जीवन संकट में हो तो अपने प्राणों की रक्षा के लिए चोरी करना कोई पाप नहीं। यह कह कर मांस का थोड़ा भाग देवी को बलि देकर शेष स्वयं खा गए।

१५. **गौतम** = यह चोल देश के किसी गांव का एक ब्राह्मण था। आजीविका के लिए घर छोड़ शबरों में जा मिला और एक शबरी विधवा से विवाह कर लिया। एक वन में रह कर पशु पक्षियों को मार कर निर्वाह किया करता था। कुछ समय के

पश्चात् एक काफ़िला से जा मिला। एक घोर वन में एक दुष्ट हाथी ने इस के सब साथियों को मार दिया। कई दिन घूमने के पश्चात् यह राजा नाड़ीजङ्घ के हां पहुँचा। उसने अपने मित्र राक्षसराज विरूपाक्ष के पास भेज दिया। वहां से अमित धन सम्पत्ति प्राप्त करके आप नाडीजङ्घ के पास लौट आए। घर लौटते समय स्वयं नाडीजङ्घ को मार कर उस के मांस को भून कर साथ ले लिया। परन्तु विरूपाक्ष ने पकड़ कर उसे वहीं ला मारा। जब इन्द्र को नाडीजङ्घ की मृत्यु का पता चला तो वह अमृत लेकर आया और उसे पुनर्जीवित कर दिया। नाडीजङ्घ की प्रार्थना पर गौतम को भी जिला दिया गया और नाडीजङ्घ ने बहुत से उपहार देकर उसे विदा किया। परन्तु देवताओं ने उसे शाप दिया कि उस शबरी विधवा से तेरे जैसे दुष्ट कई पुत्र उत्पन्न हों और मृत्यु के पश्चात् तू घोर नरक में पड़े!

१६. **दक्षिणगोकर्ण** = गोकर्ण दक्षिण मे एक तीर्थ का नाम है। यह शैवों का तीर्थस्थान है। इस के साथ दक्षिण शब्द लगाना इस लिए आवश्यक है क्योंकि इसी नाम का एक तीर्थस्थान उत्तर में नेपाल में भी है।

पञ्चम अंक:—

१७. **जाह्नवी** = गङ्गा। इस नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताते हैं कि जब अपने प्रपितामहों का उद्धार करने के लिए राजा भगीरथ गङ्गा को लिए जा रहे थे तो मार्ग मे इस के जल से राजा जह्नु का यज्ञस्थान प्लावित हो गया। राजा ने क्रोध करके इस के समस्त जल को पी लिया। तदनन्तर देवताओं तथा भगीरथ के प्रार्थना करने पर उन्हों ने कानों द्वारा उसे मुक्त कर दिया।

१८. **मेरु**=कहते हैं मेरु पर्वत पृथ्वी के मध्य में स्थित है। और इस के इर्द गिर्द सारे सितारे घूमते हैं। यह सोने तथा रत्नों की खान बताई-गई है। सात वर्षपर्वतों में से एक है।

१६. **मन्दर**=जब देवताओं तथा राक्षसों ने क्षीर सागर में से अमृत मन्थन किया था तो मन्दर पर्वत को ही मथनी बनाया था।

२०. **हिमवत्**=हिमालय भारत के उत्तर में स्थित पर्वत श्रेणी। यह भी सात वर्षपर्वतों में से एक है।

२१. **महेन्द्र**=यह सात कुलपर्वतों में से एक पर्वत है। पूर्वी घाट पर्वतमाला का वह भाग जो उड़ीसा प्रान्त के ज़िला गञ्जम में स्थित है।

२२. **कैलास**=यह हिमालय की एक चोटी है जो शिव तथा कुबेर का निवासस्थान बताई गई है।

२६. **मलय**=महेन्द्र के समान सात कुलपर्वतों में से एक। (देखो ऊपर नं०: ६)

२४. **लोकालोक**=हिन्दू पौराणिक भूगोल के अनुसार पृथ्वी सात द्वीपों की बनी हुई है जिन के चारों ओर सात ही समुद्र हैं। लोकालोक एक ऐसा पर्वत है जो सारे विश्व को घेरे हुए है और सातवें द्वीप को घेरने वाले समुद्र से भी आगे स्थित है। इस पर्वत से आगे पूर्ण अन्धकार है। प्रकाश केवल इस की इस ओर ही है। इस प्रकार यह पर्वत दृश्य लोक को अन्धकारमय देश से पृथक् करता है।

२५. **लोकपालाः** = आठों दिशाओं के रक्षक देवता। पूर्व से घड़ी की सुई के अनुसार वे इस प्रकार हैं:— इन्द्र, अग्नि यम, नैऋत वरुण, मरुत्, कुबेर और ईश।

२६ **त्रिदशपति** = इन्द्र। देवताओं का स्वामी। देवता को त्रिदश इस लिए कहते हैं कि वह सदा तीस वर्षों का ही रहता है, अथवा उस की तीन दिशाएँ होती हैं। जन्म, सत्ता और अविनाश। अथवा, "तृतीया यौवनाख्या दशा सदा येषाम्", अर्थात् जो सदा जवान रहते हैं, कभी बूढ़े नहीं होते।

II. नाट्य-कला-सम्बन्धी परिभाषाएँ:—

१. **नान्दी** — प्रस्तावना अथवा स्थापना के आरम्भ में आने वाले श्लोकों को नान्दी कहते हैं इस में किसी देवता का स्तुतिगान होता है अथवा सामाजिकों के लिए आशीर्वाद। कभी कभी इस में नाटक की कथावस्तु की ओर भी संकेत होता है कभी श्लोक-रचना ऐसी होती है कि वर्णों को विशेष रूप से मिलाने से नाटक के प्रधानपात्रों के नाम बन जाते हैं।

भरत-नाट्य-शास्त्र में लिखा है:—

"पूर्वं कृता मया नान्दी आशीर्वचनसंयुता।"

मल्लिनाथ ने इस का लक्षण यह दिया है:—

"आशीर्नमस्क्रियारूप श्लोकः काव्यार्थसूचकः।"

नान्दी शब्द नन्द् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'प्रसन्न होना'। तो नान्दी का अर्थ हुआ 'हर्ष' अथवा 'प्रसन्नता'। नाट्यप्रदीप में यही अर्थ मिलता है:—

'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः
कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः ।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी
तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥'

कभी इससे देवता के अतिरिक्त ब्राह्मण तथा राजादिकों की भी आशीर्वाद-युक्त स्तुति की जाती है:—

"आशीर्वचन संयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।"

२. **सूत्रधार** —सूत्रधार का शब्दार्थ है 'सूत्र को धारण करने वाला', 'शिल्पी', अथवा 'गृहकार'। नाटक में सूत्रधार एक विशेष पात्र होता है जो नाटक के खेले जाने का प्रबन्ध करता है।

प्रस्तावना अथवा स्थापना में आकर सूत्रधार नाटक की कथावस्तु, अथवा नाटककार, अथवा नायक के गुणों की सूचना देता है। और वह रङ्गमञ्च को सजाने में भी बड़ा चतुर होता है। :—

"आसूत्रयन् गुणान् नेतुः कवेरपि च वस्तुनः ।
रङ्गप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इहोदितः ॥"

३. **नेपथ्य** — इस शब्द की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। इसका अर्थ है किसी पात्र के कपड़े अथवा वेष-भूषा। विस्तृत रूप में इस का अर्थ पात्रों के 'वस्त्र पहिनने का कमरा' हो जाता है जिसे रंगमञ्च से एक पर्दे के द्वारा पृथक् किया जाता है। :—

"कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते"

कभी कभी परिमित रूप में नेपथ्य का अर्थ 'पर्दा' ही लिया जाता है। विश्वलोचन ने पर्दे को नेपथ्य भी कहा है।

४. स्थापना (अथवा प्रस्तावना) — भास नाटकचक्र तथा 'मत्तविलास' आदि में 'स्थापना' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अर्थ में साधारणतः 'प्रस्तावना' शब्द का ही प्रयोग होता है। साहित्य-दर्पण में इस का यह लक्षण दिया गया है। :—

" नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहितः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥"

नाट्य-शास्त्र के अनुसार इस का लक्षण इस प्रकार है:—

"प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नाम च कीर्तयेत्।
प्रस्तावनां नटः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम्॥"

इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि स्थापना तथा प्रस्तावना एक ही हैं। 'भरत' के अनुसार स्थापना 'स्थापक' के द्वारा कही जानी चाहिए:—

'स्थापकेन स्थाप्यत इति स्थापना।'

इस में सूत्रधार, नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक से अपने कार्य के विषय में विचित्र उक्ति से इस प्रकार बातचीत करता है जिस से प्रस्तुत कथा की सूचना मिलती है।

५. काञ्चुकीय (कंचुकी)—यह शब्द कञ्च् धातु से निकला है जिस का अर्थ है बान्धना या चमकना। काञ्चुकीय का अर्थ है कंचुक को धारण करने वाला। अन्तः पुर के विशेष वृद्ध ब्राह्मण सेवक को काञ्चुकीय कहते हैं। इस का वर्णन इस प्रकार से किया गया हैं:—

"अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कंचुकीत्यभिधीयते॥"

मातृगुप्त ने इस का लक्षण यह बताया है:—

"ये नित्यं सत्यसंपन्नाः काम-दोष-विवर्जिताः।
ज्ञान-विज्ञान-कुशलाः कंचुकीयास्तु ते स्मृताः॥"

अर्थात् कञ्चुकी सदा सत्य बोलता है, कामदोषों से रहित होता है और ज्ञान तथा विज्ञान में कुशल होता है।

६. प्रवेशक —यह एक ऐसा दृश्य है जिसे दो अंकों के बीच में रखा जाता है। इस में नीच पात्र (भृत्य आदि) काम करते हैं जो प्राकृत बोलते हैं। इस से दो अङ्कों को परस्पर जोड़ा जाता है। इसके द्वारा उन घटनाओं का उल्लेख किया जाता है जो रङ्गमञ्च पर नहीं दिखाई गईं या नही दिखाई जा सकेतीं! दो अङ्कों के बीच में आने के कारण प्रथम अङ्क में इस का प्रयोग निषिद्ध है:—

"नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशः क्वचिदिष्यते।
प्रवेशं सूचयेत्तस्मादमुख्याङ्के प्रवेशकात्॥"

नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इस में उक्तियां उत्कृष्ट अथवा रमणीय नहीं होतीं:—

"प्रवेशकोऽनुदात्तोक्तया नीचपात्रप्रयोजितः ।"

७. विदूषक—जो अपने विकृत अङ्गों से, ऊटपटांग बातों से और अनोखे वेष से सामाजिकों को हंसाता है उसे विदूषक कहते हैं ।

८. स्वगतम् (अथवा आत्मगतम्)—

"अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्" ।

जो बात रङ्गमञ्च पर ठहरे हुए शेष पात्रों को सुनाने योग्य नहीं होती उसे 'स्वगतम्' कहते हैं। ऐसी बात को एक पात्र दूसरे पात्र अथवा पात्रों से नहीं कहता वरन् अपने मन में ही कहता है; परन्तु इस प्रकार कहता है कि सामाजिक सुन सकते हैं।

९. प्रकाशम् — "सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्"।

'स्वगत' के पश्चात् जो बात सब को सुनानी होती है उसे 'प्रकाशम्' अथवा 'प्रकट' कहते हैं ।

१०. मिश्रविष्कम्भक—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ।।
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ।।

बीती हुई और आगे होने वाली कथांशों का सूचक अङ्क के

आरम्भ में आने वाला विष्कम्भक कहलाता है। एक या अधिक मध्यम पात्रों के द्वारा प्रयोग किया गया विष्कम्भक 'शुद्ध कहलाता है और नीच तथा मध्यम दोनों प्रकार के पात्रों द्वारा प्रयोग किए हुए को 'मिश्र विष्कम्भक' कहते हैं। प्रवेशक तथा विष्कम्भक में यह अन्तर है कि 'प्रवेशक' में सब पात्र नीच होते हैं और 'विष्कम्भक' के मध्यम या नीच और मध्यम। दूसरे, 'विष्कम्भक' के प्रथम अङ्क के आरम्भ में भी आने के लिए कोई निषेध नहीं परन्तु 'प्रवेशक' प्रथम अङ्क के आरम्भ में नहीं आ सकता।

११. भरत-वाक्य—नाटक के अन्त में, आशीर्वचन युक्त अथवा शुभकामना सूचक श्लोक अथवा श्लोकों को भरतवाक्य कहते हैं। नाट्यशास्त्र के जन्मदाता भरत मुनि के सम्मान में भरतवाक्य का प्रयोग होने से इस का नाम भरतवाक्य पड़ गया है। इस में राष्ट्र और जाति आदि केलिए मंगल-कामना की जाती है। भरतवाक्य से पहिले 'तथापीदमस्तु' वाक्य का प्रयोग प्रायः होता है।

III प्राकृत—

प्राकृत संस्कृत से ही निकली कही जाती है:—

"प्रकृतिः संस्कृतम्। तत आगतं प्राकृतम्।"

कई कहते हैं कि संस्कृत और प्राकृत दो बहिने हैं। जिस समय शिक्षित समाज के बोलने की भाषा अथवा साहित्यिक भाषा संस्कृत थी, उस समय साधारण लोगों की भाषा उस से भिन्न थी जिसे प्राकृत के नाम से पुकारा जाता था:—

"प्रकृतानां (प्राकृत जनानां) भाषा प्राकृतम्"

प्राकृत के भी कई रूप हैं— महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अवन्ति इत्यादि। प्राचीन साहित्यिक प्राकृत के नमूने हमें ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में अशोक के शिलालेखों में मिलते हैं। इस से पूर्व बौद्ध धर्म-ग्रन्थ थे। इन शिलालेखों की भाषा पाली थी। यदि हम प्राकृत को विस्तृत अर्थ में लें तो हमें पाली को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान देना पड़ता है। परन्तु साधारणतया पाली-साहित्य प्राकृत-साहित्य में नहीं लिया जाता। अतः यदि पाली साहित्य को पृथक् लिया जाए तो हम देखते हैं कि प्राकृत साहित्य का प्रधान अंश जैन साहित्य है जो अर्ध मागधी, महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी में लिखा गया।

काव्यों के लिए, प्राचीन काल से ही सर्व प्रधान प्राकृत महाराष्ट्री ही रही। यही प्राकृत-महाकाव्यों तथा गीतों की भाषा थी। और प्राकृत के वैयाकरणों ने अपना कार्य इसी के आधार पर आरम्भ किया। महाकाव्यों में सब से अधिक प्रसिद्ध 'सेतु-बन्ध' है। रावणवहो (अथवा, दहमुहवहो), गौडवहो तथा हेमचन्द्र के कुमारपालचरित के नाम भी उल्लेखनीय हैं। परन्तु महाराष्ट्री के अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति हाल की सत्तसई है।

इन के पश्चात् हम नाटकीय प्राकृत के तीन रूप देखते हैं— महाराष्ट्री, शौरसेनी तथा मागधी। प्राकृत के विभिन्न रूपों का प्रयोग 'मृच्छकटिकम्' में प्रचुर मात्रा में मिलता है। 'कर्पूरमञ्जरी' में तो सभी पात्र प्राकृत ही बोलते हैं।

विदूषक तथा स्त्री पात्रों की साधारण बोलचाल की भाषा शौरसेनी होती है। इन्हीं के द्वारा बोले जाने वाले पद्यों की भाषा महाराष्ट्री होती है। और मागधी का प्रयोग प्रायः

भृत्य, वामन, वैदेशिक आदि करते हैं, यथा अभिज्ञानशाकुन्तल में दोनों रक्षी तथा धीवर की भाषा मागधी ही है।

प्राकृत साहित्य का एक विशेष भाग प्राकृत व्याकरण हैं। भारतीय नाट्य शास्त्र सब से पुराना प्रमाण है। प्राचीनतम प्राकृत व्याकरण जो हस्तगत हुआ है वह वररुचि कात्यायन का 'प्राकृत प्रकाश' है, परन्तु इस विषय का सब से श्रेष्ठ निरूपण जैन-आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२) ने अपने व्याकरण "सिद्ध हेम-चन्द्र" के आठवें अध्याय में किया है।

संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से संस्कृत बनाने की रीति जानने के लिए प्राकृत की विशेषताएँ जानना बहुत आवश्यक है। आगे हम यही विशेषताएँ देते हैं:—

१. **द्विवचनस्य बहुवचनम्:**— प्राकृत में दो ही वचन होते हैं:- एक वचन और बहु वचन। इस में द्विवचन नहीं होता। द्विवचन के स्थान पर बहुवचन ही कर दिया जाता है।

२. **चतुर्थ्याः षष्ठी**— प्राकृत में चतुर्थी के स्थान में षष्ठी होती है।

३. प्राकृत में आत्मनेपद नहीं होता। प्रत्येक धातु परस्मैपद में होती है।

४. प्राकृत में निम्न लिखित स्वर होते ही नहीं:—

ऋ; ॠ; ऌ; ॡ; ऐ; औ; अः।

(i) संस्कृत के 'ऋ' के स्थान में अगले वर्ण का स्वर आ जाता है:— तृण से तण; ऋषि से इसि इत्यादि।

अपवाद— वृद्ध से वुड्ढ और ऋण से रिण।

(ii) 'ऌ' को 'इलि' हो जाता है जैसे:—क्लृप्त से किलित्त।

(iii) ऐ; औ के स्थान में क्रमशः ए, ओ आते हैं:—

शैल से सेल; औरस से ओरस; सौन्य से सोस्य।

ऐ को अ + इ और औ को अ + उ भी होता है:— दैव से दइव; दैत्य से दइच; भैरव से भइरव; कौरव से कउरव इत्यादि।

५. 'नो णः सर्वत्र'। प्राकृत में सब स्थान पर न को ण होता- है:— नदी से णई इत्यादि।

६. 'शषयोः स'—श् तथा ष् के स्थान में स् हो जाता है:—निशा से णिसा; कषाय से कसाय।

७. "आदेर्यो जः"—संस्कृत में जिन शब्दों के आदि में य् होता है प्राकृत में य् के स्थान पर ज् होता है:— यशः से जसो; यदि से जइ; यज्ञ से जक्खो। अपवाद— यष्टि से लट्ठी।

८. परन्तु यदि 'य्' आदि में न होकर मध्य अथवा अन्त में हो तो इसके स्थान में 'अ' हो जाता है:— जय से जअ।

९. "मो बिन्दुः":— पदान्त 'म्' को अनुस्वार हो जाता है:— भद्रम् से भद्दं।

१०. अकारान्त— शब्द के अन्त में यदि विसर्ग आए तो उस विसर्ग को 'उ' हो जाता है। यह 'उ' पहिले 'अ' से मिलकर 'ओ' हो जाता है:—

पुरुषः से पुरीसो।

११. "अन्ते हल्"– पदान्त में हलन्त का लोप हो जाता है :—
देवात् से देवा; जगत् से जग; मनस् से मन इत्यादि ।

१२. "पो वः"– पदान्त अथवा पद के बीच के प् को व् हो जाता है :— शापः से सावो ।

१३. "टो डः"; "ठो ढः"— ट् और ठ् को क्रमशः ड् और ढ् हो जाता है ;— नटः से णडो; पठ से पढ ।

१४. "डस्य लः"— ड् को ल् हो जाता है :-तडागः से तलाओ ।

१५. यदि क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, य्, और व् आरम्भ में न हों तो प्रायः इन का लोप हो जाता है:— लोकः से लोओ; सागरम् से साअरं; वातः से वाओ; कपि से कइ; जीव से जीअ; वायु से वाउ; नयन से णअण इत्यादि ।

१६. यदि ख्, घ्, थ्, ध् और भ् आरम्भ में न हों तो इन के स्थान में 'ह्' आ जाता है:—
मुखम् से मुहं; मेघ से मेह; गाथा से गाहा; नभसः से णहसो ।

१७. (क) "उपरिलोपः—क्, ग्, ड्, त्, द्, प्, ष्, सां"— संयुक्त अक्षरों में इन व्यञ्जनों में से कोई आदि में हो तो उस का लोप हो जाता है और आगे के वर्ण को द्वित्व हो जाता है:— भक्त से भत्त; अद्य से अज्ज; स्निग्ध से सिणिद्ध; उत्पल से उप्पल; मुद्गर से मुग्गर; सुप्त से सुत्त; हस्त से हत्थ ।

(ख) "अधो मनयां":—संयुक्त अक्षरों में म्, न्, य् में से कोई अन्तिम हो तो इनका लोप हो जाता है और पहिले व्यञ्जन को द्वित्व हो जाता है:—
युग्म से जुग्ग; विघ्न से विग्घ; योग्य से जोग्ग ।

(ग) "सर्वत्र लवरां":—संयुक्त अक्षर में ल्, व्, र् का सदा लोप हो जाता है और दूसरे अक्षर को (चाहे वह पहिले हो या पीछे) द्वित्व हो जाता है :—

विक्लव से विक्कव; उज्ज्वल से उज्जल।

१८. 'त्य', 'थ्य' तथा 'द्य' के स्थान में क्रमशः च्च, छ अथवा च्छ; और ज्ज हो जाता है. — नित्य से णिच्च; सत्य से सच्च; वैद्य से वेज्ज

१९. ध्य और ह्य के स्थान में ज्झ हो जाता है। अध्ययन से अज्झअण इत्यादि।

(ग) "सर्वत्र लवरां":—संयुक्त अक्षर में ल्, व्, र् का सदा लोप हो जाता है और दूसरे अक्षर को (चाहे वह पहिले हो या पीछे) द्वित्व हो जाता है :—

विक्लव से विक्कव, उज्ज्वल से उज्जल।

१८. 'त्य' 'थ्य' तथा 'द्य' के स्थान में क्रमशः च्च, छ अथवा च्छ; और ज्ज हो जाता है — नित्य से णिच्च; सत्य से सच्च; वैद्य से वेज्ज

१९. ध्य और ह्य के स्थान में ज्झ हो जाता है। अध्ययन से अज्झअण इत्यादि।